मिर्ज़ा ग़ालिब

मिर्ज़ा ग़ालिब

लेखक
जयपाल सिंह तरंग

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

विषय सूची

मिर्ज़ा ग़ालिब

ग़ालिब कौन है ?

भारत में मुग़ल साम्राज्य अपनी अंतिम साँसें ले रहा था। नवाबज़ादे विलासिता में डूबे हुए थे। वे या तो शतरंज और चौसर में फँसे रहते थे या फिर बटेरबाज़ी में सारा समय गँवा देते थे। शेष समय मदिरा-पान और नाच-गानों में बीतता था। दिल्ली, जो सम्राट शाहजहाँ के समय में इंद्रपुरी बनी हुई थी, इस समय विधवा-सी लगती थी। वह कई बार लुटी-पिटी, कभी अपनों से तो कभी ग़ैरों से। जनता निर्धन हो गई थी। समाज में चारों ओर अशांति और आर्थिक संकटों का तूफान था।

अंग्रेजों ने अपनी चाल से संपूर्ण देश को अपने शिकंजे में जकड़ लिया था। राजे-महाराजे नाम के रह गए थे। यहाँ तक कि कहने को तो बहादुरशाह ज़फ़र मुग़ल सम्राट थे लेकिन उनका साम्राज्य केवल दिल्ली के लाल किले तक सीमित था। लाल किले में भी नौकर-चाकरों को वेतन देने के लिए धन नहीं था। खज़ाना खाली हो चुका था।

ऐसे समय में भी, जबकि चारों ओर गिरावट ही गिरावट थी, एक क्षेत्र ऐसा भी था जो उन्नति की ओर अग्रसर था। वह था उर्दू काव्य। सम्राट बहादुरशाह ज़फ़र स्वयं एक अच्छे शायर थे। उनके समय में लाल किला शेरो-शायरी का केन्द्र था। वहाँ उच्च कोटि के मुशायरे अकसर होते रहते थे। इब्राहीम ज़ौक़, मौमिन और मिर्ज़ा ग़ालिब इस काल के महान शायर हैं। मिर्ज़ा ग़ालिब ज़ौक के बाद सम्राट ज़फ़र के राजकवि रहे। वे सम्राट ज़फ़र की कविता भी सँवारा करते थे।

मिर्ज़ा ग़ालिब बहुत ही लोक प्रिय कवि हुए हैं। आज भी उनके शेर लोगों की ज़बान पर रहते हैं। जन्म-दिवस के अवसर पर प्राय: दुहराई जाने वाली यह पंक्ति उसी महान शायर की है :

तुम सलामत रहो हज़ार बरस,
हर बरस के हों दिन पचास हज़ार।

ग़ालिब की शताब्दी सन् १९६९ में बड़ी धूमधाम से देश-विदेश में मनाई गई। भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति स्व० डॉ० ज़ाकिर हुसैन ने ग़ालिब शताब्दी का उद्‌घाटन करते हुए मिर्ज़ा

ग़ालिब को युगप्रवर्तक शायर बताया था। भारत तथा अन्य कई देशों की सरकारों ने उनके सम्मान में डाक-टिकट जारी किए। कई नगरों में ग़ालिब भवनों की स्थापना हुई। हज़रत निज़ामुद्दीन दिल्ली में उनके मज़ार के पास ही "ग़ालिब एकेडेमी" की विशाल इमारत में ग़ालिब-बोध-संस्थान की स्थापना हुई जहाँ के म्यूज़ियम में ग़ालिब के समय के रीति रिवाजों से संबंधित वस्तुओं और चित्रों का प्रदर्शन किया गया है। मिर्ज़ा ग़ालिब का परिचय देना बहुत कठिन है। उन्होंने कहा है :

पूछते हैं वो कि ग़ालिब कौन है,
कोई बतलाओ कि हम बतलाएँ क्या ?

उनका जीवन कष्ट की करुण कहानी है, प्यासे की अतृप्त पीड़ा है और दर्द का मौन नग़मा। यही करुण-कष्ट, अतृप्त पिपासा और मौन दर्द मिर्ज़ा ग़ालिब के काव्य की आधार-शिला है। सुमित्रानन्दन पन्त ने सही कहा है :

वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।
निकल कर नयनों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान ॥

जीवन के वेदनापूर्ण अनुभवों ने मिर्ज़ा ग़ालिब को उर्दू-काव्य का इतना महान शायर बनाया कि संसार भर में उनकी कीर्ति फैल गई।

आओ इस महान शायर के जीवन और काव्य के बारे में जानकारी पाने के लिए कुछ क्षण व्यतीत करें।

—लेखक

बचपन के दिन

बात आगरे की है। आकाश में इक्के-दुक्के बादल तैर रहे थे। उनके नीचे नाच रहीं थीं रंग-बिरंगी पतंगे। दिन ही पतंग उड़ाने के थे। अचानक शोर हुआ। पतंग को ज़रा सा झटका, और वो काटा! वो काटा! लो कट गई बलवान की पतंग !!!

चलो! दौड़ो! लूट लो डोर, और पकड़ लो पतंग। छीना-झपटी शुरू हो गई। नन्हे बालक की पतंग और डोर लुट गई।.बलवान उदास हो गया। बालकों ने उसका मज़ाक उड़ाया। उसकी पलकें नम हो गईं। हाथ में बची हुई डोर के हुचके को लेकर छत से नीचे आया। पास ही गली में बड़ी हवेली के द्वार पर दस्तक दी। कोई नहीं बोला। उसने आवाज़ दी, "मिर्ज़ा नौशा! मिर्ज़ा नौशा !!"

इस पर भी कोई उत्तर नहीं मिला। कुछ देर रुककर, उसने दरवाज़ा खोला और बैठक के कमरे में प्रवेश किया। अंदर एक किशोर शतरंज के खेल में व्यस्त था। बलवान मिर्ज़ा असदुल्ला खाँ के पास जाकर बोला, "मिर्ज़ा, शतरंज में इतने मस्त हो कि मेरी दस आवाज़ें पी गए।"

"आओ बलवान भाई, वाक़ई मैंने सुना नहीं था", मिर्ज़ा असद ने कहा।

बलवान बोला, "तुम क्यों सुनने लगे। तुम्हारे यहाँ शतरंज है, चौसर है। खेलने के लिए राशिद है। मुझे पतंग का शौक़ लगा दिया। बच्चों में मेरा मज़ाक हो रहा होगा।"

कहते कहते बलवान की आँखों में आँसू आ गए। आँसू देखकर बालक असद भी खड़ा हो गया। उसने पूछा, "क्या बात हुई ?"

सुबकियाँ लेते हुए बलवान ने बताया "मेरी पतंग आज एक मामूली से

बच्चे ने काट दी। यदि तुम वहाँ होते तो मैं यह बाज़ी हरगिज़ न हारता।''

''बस इतनी सी बात और इतने आँसू।'' साहस बँधाते हुए मिर्ज़ा ने कहा, ''पतंगें तो कटती रहती हैं। मुझे ही देखो इतनी छोटी सी उमर में कितनी पतंगें कट गई।'' बलवान सरल स्वभाव से बोला, ''तुम्हारी पतंग तो कभी नहीं कटी। तुम तो हमेशा दूसरों की पतंगें काटते रहे हो।''

मिर्ज़ा ने कहा ''मुझे ही देखो इतनी छोटी सी उमर में कितनी पतंगें कट गईं।''

मिर्ज़ा मुस्कराया और बोल, ''तुम पतंग के खेल की बात समझ रहे हो। मैं ज़िन्दगी की बात कह रहा हूँ। पाँच साल का था तब अब्बा गुज़र गए। कट गई न ज़िंदगी की पहली पतंग। अब्बा फ़ौज में नौकरी करते थे। कभी किसी राजा

के यहाँ तो कभी किसी नवाब के यहाँ। यह घर तो हमारे नाना का है।''

बलवान ने फिर पतंग की बात चलाई। ''तो अब तुम पतंग उड़ाने क्यों नहीं आते।''

मिर्ज़ा ने पूछा, ''क्यों भाई बलवान, पतंग का दुख-दर्द भी तुमने कभी सुना है ?''

''पतंग कोई बोलती है ?'' बाल-स्वभाव से बलवान ने कहा।

मिर्ज़ा ने कहा ''हाँ, बोलती है। मुझ से उसकी बातें हुई हैं। मैंने उसे नज़्म में लिख लिया है।''

मिर्ज़ा ने इतना कहा और पतंग नामक अपनी कविता सुनानी आरंभ कर दी—

गोरे पिंडे पर न कर उनके नजर।
खींच लेते हैं ये डोरे डाल कर॥
अब तो मिल जाएगी इनसे तेरी साँठ।
लेकिन आख़िर को पड़ेगी ऐसी गाँठ॥
सख़्त मुश्किल होगा सुलझाना तुझे।
क़हर है दिल उनमें उलझाना तुझे॥
एक दिन तुझको लड़ा देंगे कहीं।
मुफ़्त में नाहक कटा देंगे कहीं॥
दिल ने सुनकर, कांपकर, खा पेचो ताव।
गोते में जाकर दिया कटकर जवाब॥
रिश्तए दर गरदनम अफ़गन्दा दोस्त।
मी बुबर्दु हरजांके ख़ातिर ख्वाहे ओस्त॥

''वाह! वाह!! बहुत अच्छी कविता है। लेकिन पतंग का उत्तर समझ में नहीं आया।'' बलवान ने प्रश्न किया।

मिर्ज़ा ने कहा, ''ये फ़ारसी में है।'' इसका मतलब है—

दोस्त ने प्रेम की डोर मेरी गर्दन में डाल दी है। अब वह जहाँ चाहे मुझे ले जा सकता है। और दोस्त इस समय तुम भी जहाँ चाहो मुझे ले जा सकते हो।

अंदर के कमरे में बैठे मिर्ज़ा की माँ बच्चों की बातें सुन रहीं थीं। वे बोल उठीं, "तुम्हें सिर्फ खेलने और घूमने के अलावा और भी कोई काम है? न अपनी सुध, न और की फ़िक्र। अभी तुम्हारे चचा आने वाले हैं—क्या उन्हें खाने पर तुम्हारा इंतज़ार करना पड़ेगा?"

"चचा आएँगे?" प्रसन्नता एवं जिज्ञासा के स्वर में मिर्ज़ा ने पूछा।

"हाँ, आते ही होंगे। खाने के बाद चचा के यहाँ जाना है। आज से हम वहीं रहा करेंगे। तुम जल्दी नहा-धोकर तैयार हो जाओ", माँ ने आदेश दिया।

असद बहुत खुश हुआ। बलवान को विदा कर वह अंदर चला गया।

असद के चाचा नसरुल्ला खाँ बेग मराठों की तरफ़ से आगरा के दुर्गपति थे, उनके युद्ध-कौशल की ख्याति सारे उत्तर भारत में थी।

कुछ समय पश्चात् असद के चाचा आए, उनके साथ एक सैनिक भी आया। कमरे में प्रवेश करते ही असद ने दोनों को सलाम किया और आशीर्वाद लिया।

चाचा नसरुल्ला खाँ बेग ने कुँवरसिंह से असद का परिचय कराते हुए कहा, "भाई साहब का यह सबसे बड़ा लड़का असद है, घर में इसे मिर्ज़ा नौशा कहते हैं।"

कुँवरसिंह ने प्रश्न किया, "भाई साहब क्या आगरा में कभी नहीं रहे?"

"दोस्त, उनके भाग्य में घूमना-फिरना ही लिखा था। लखनऊ रहे, हैदराबाद रहे, अंत में अलवर के महाराज बख़्तावर सिंह की फ़ौज में रहे।"

"अलवर में रहे?" कुँवरसिंह ने चौंककर पूछा, "क्या नाम था उनका?"

"मिर्ज़ा अब्दुल्ला खाँ बेग,"

कुँवरसिंह कहने लगे "खाँ साहब और हम तो अलवर में साथ ही साथ थे। जिस विद्रोह को दबाने के लिए महाराज ने खाँ साहब के साथ सेना भेजी थी उसमें मैं भी उनके साथ गया था। वह विद्रोह तो हमने दबा दिया, किन्तु खाँ साहब ऐसे घायल हुए कि उन्हें कोई न बचा सका। खाँ साहब बहुत साहसी, और बहुत ही

पराक्रमी थे। मुझ पर उनकी विशेष कृपा थी।" अब्दुल्ला खाँ बेग की याद में वे दोनों कुछ क्षण के लिए शोकमग्न हो गए।

असद इस शोकाकुल गंभीरता को सहन न कर सका और बोला, "चचा जान, जिन्हें जाना था, वे गए। अब आप लोग बेकार दुखी हो रहे हैं। आदमी की बहादुरी तो फ़क्र की बात है। खाना तैयार हो गया है, चलिए—अंदर चलिए।"

अबोध बालक के साहसपूर्ण शब्द सुनकर दोनों दंग रह गए। कुँवरसिंह बोले, "आखिर बहादुर बाप का बहादुर बेटा है। क्या उम्र हो गई है इसकी खाँ साहब ?"

कुँवर सिंह बोले, "आखिर बहादुर बाप का बहादुर बेटा है।"

"यही बस बारह साल ! बातों में तो बड़ों के कान काटता है। ईश्वर इस की लंबी उम्र करे।"

कौन जानता था कि बहादुर बाप का बहादुर बेटा तलवार का नहीं, कलम का सिपाही बनेगा। असदुल्ला ख़ाँ बेग, युद्ध-कला में नहीं, काव्य-कला में नाम कमाएगा। किसे पता था कि यह बालक मिर्ज़ा ग़ालिब के नाम से उर्दू - साहित्य के आकाश में सूरज-सा चमकेगा।

ननिहाल में असद का जीवन जिस रूप में चल रहा था—चाचा के यहाँ आकर वह कुछ बदल गया। न वह शतरंज, न चौसर, न पतंगबाज़ी। उस समय के सामंती बालकों की तरह उसका पालन-पोषण प्रारंभ हुआ। चाचा के यहाँ खेलों का मामला तो नहीं जमा, किन्तु सैर-सपाटे की ज़िंदगी पर कोई प्रभाव न पड़ा।

चाचा ने उसकी शिक्षा का अच्छा प्रबंध किया। फ़ारसी के एक महान् विद्वान् मौलवी मुअज्ज़म की देख-रेख में इनकी प्रारंभिक शिक्षा चली। एक दिन मिर्ज़ा असद के चाचा ने मौलवी साहब को भोजन पर बुलाया। भोजन के समय चाचा ने मिर्ज़ा की पढ़ाई के बारे में पूछा "मौलवी साहब, यह हज़रत कुछ पढ़ते-लिखते भी हैं या दोस्तों की मंडली में ही रहते हैं?"

मौलवी साहब बोले—"मिर्ज़ा नौशा फ़ारसी सीखने में ख़ूब मन लगाते हैं। फ़ारसी के बड़े शायरों के कलाम को समझने लगे हैं और इस छोटी-सी उम्र में ही फ़ारसी में कुछ शेर भी गढ़ने लगे हैं।"

यह सुनकर नसरुल्ला ख़ाँ बेग बहुत ख़ुश हुए। मौलवी साहब से निवेदन किया, "आप इस बच्चे का ख़ास खयाल रखें। मैं इसे बहादुर सिपाही की शक्ल में देखना चाहता हूँ। इसलिए मैं कभी-कभी अपने बुज़ुर्गों की बहादुरी के कारनामें इसे सुनाता रहता हूँ। आप भी खयाल रखियेगा।"

चाचा चाहते थे कि मिर्ज़ा नौशा वीर सैनिक बने, किन्तु उसे शस्त्रों की झंकार पसंद नहीं थीं। उसके कानों में तो गूँजता था ग़ज़लों का तरन्नुम। जब-तब मिर्ज़ा नौशा अपने अंदर खो जाता और किसी अधूरे शेर को पूरा करने के लिए शब्द खोजने लगता।

कविता बनाकर लिखता रहता और अपने मित्रों को सुनाता।

चाचा के घर में पैसे की कमी नहीं थी। शायरी की वजह से नए मित्र बने, नई महफ़िलें जमीं। उनको कविता के प्रेमी और प्रशंसक केवल किशोर या युवा ही नहीं बड़ी उम्र के लोग भी थे। बड़े आदमियों में एक थे नवाब हिशाय उद्दीन हैदर खाँ जिनकी शायरी में बहुत दिलचस्पी थी।

एक दिन जब नवाब साहब घर आए तो असद ने पूछा, "नवाब साहब आप तो लखनऊ मुशायरे में गए हुए थे—कब लौटे ?"

नवाब साहब ने उत्तर दिया, "आज ही आया हूँ। घर पर सामान रखा और तुम्हें देखने चला आया।"

"मुशायरा कैसा रहा ?"

"बहुत ही कामयाब।"

"मीर साहब मुशायरे में आए थे।"

"नहीं—वे बहुत बूढ़े हो गए हैं और बीमार भी रहते हैं।" नवाब साहब बोले, "मैं मीर साहब से उनके घर पर जाकर मिला था और मैंने उनको तुम्हारे कुछ शेर सुनाए। मीर साहब ने पूछा—'इस लड़के की उम्र क्या है ?' मैंने कहा, 'बारह तेरह साल।' जानते हो यह सुनकर उन्होंने क्या कहा।"

"क्या कहा ?" असद ने उत्सुकता से पूछा।

"बोले, अगर इस बच्चे को काबिल उस्ताद मिल गया और इसे सही रास्ते पर डाल दिया तो एक दिन यह बहुत बड़ा शायर बनेगा। नहीं तो अनाप-शनाप लिखने लगेगा।"

मीर-तक़ी-मीर की भविष्यवाणी सुनकर मिर्ज़ा नौशा बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने मन-ही-मन निश्चय किया कि मैं अपनी योग्यता बढ़ाने के लिए कोई कसर नहीं रखूँगा। घूमना-फिरना कम कर दूँगा। पढ़ने-लिखने में मन लगाऊँगा और अच्छे शायरों की सब किताबें पढ़ डालूँगा।"

एक दिन शेरो सुख़न की महफिल से मिर्ज़ा ख़ुशी-खुशी अपने मकान पर पहुँचे तो देखा कि घर में सब लोग रो रहे थे।

मिर्ज़ा नौशा को गले से लगाते हुए माँ बोली—"बेटा, तेरे चचा जान बेहोश हैं ?"

"क्यों, कैसे, क्या हुआ ?" एक ही साँस में असद मियाँ ने अपनी माँ पर प्रश्नों की बौछार कर दी।

माँ ने आँचल से अपने आँसू पोंछे और बोली—"तेरे चचा जंगल में शिकार पर गए हुए थे। हाथी से नीचे गिर पड़े। सिर में बहुत चोट आई है। आँख तक नहीं खोली।"

मिर्ज़ा नौशा की माँ अभी बता ही रही थी कि अचानक रोने की आवाज़ से वे भाँप गईं कि वे चल बसे। वह भी ज़ोर-ज़ोर से रोती हुई अंदर की ओर चली गईं। मिर्ज़ा नौशा के नीचे से तो मानो ज़मीन ही सरक गई। सर पकड़ कर वहीं बैठ गया।

नसरुल्ला ख़ाँ बेग का अंतिम संस्कार सामंती ढंग से हुआ। उनके बहुत से संबंधी इस अवसर पर आगरे आए। उनमें लोहारू के नवाब अहमद बख़्श ख़ाँ भी दिल्ली से आए थे। अहमद बख़्श ने मिर्ज़ा नौशा को धीरज बँधाया और उनकी माँ से कहा, "आप लोग अब यहाँ से दिल्ली चलें और वहीं हमारे साथ रहें।"

मिर्ज़ा नौशा ने कहा, "वहाँ हमारी गुज़र कैसे होगी। इतना पैसा कहाँ से आएगा।"

अहमद बख़्श ख़ाँ बोले, "हम लोग तुम्हारे लिए ग़ैर तो नहीं हैं। तुम लोग हमारे पास रहना। मैं अंग्रेजों से बात कराऊँगा और पेंशन का इंतज़ाम करूँगा। मुझे आशा है कि तुम्हारे घर वालों के लिए १०,००० रुपए सालाना पेंशन मंज़ूर हो जाएगी।"

मिर्ज़ा नौशा को निराशा के अंधकार में आशा की किरण दिखाई दी। मिर्ज़ा नौशा तो अहमद बख़्श ख़ाँ के साथ दिल्ली चले गए और अगले पाँच साल के दौरान दिल्ली और आगरे के बीच चक्कर लगाते रहे।

दिल्ली निवास और सफ़र

पुरानी दिल्ली पुरानी होते हुए भी आकर्षण का केंद्र थी। जहाँ अब चाँदनी चौक की सड़क है, यहाँ नहर थी जो दरियागंज तक चली गई थी। खूब सैर-सपाटे होते थे। लोग खूबसूरत पोशाक पहन कर बाज़ारों में निकलते थे। संगीत की सरगम और नृत्य की झंकार से हर संध्या रंगीन हो उठती थी। मिर्ज़ा नौशा को दिल्ली के इस मनमोहक रूप ने रिझा लिया।

सम्राट् अकबर के समय में आगरा राजनीति का केन्द्र था। शाहजहाँ के समय तथा उसके बाद दिल्ली राजनीति का केन्द्र बन गई। लोहारू वंश के लोग दिल्ली के प्रतिष्ठित समाज में गिने जाते थे। उनका किले में भी आना जाना रहता था। मिर्ज़ा नौशा भी उनके साथ बड़े लोगों के यहाँ आते-जाते थे।

एक बार अहमद बख़्श ख़ाँ और उनके भाई इलाही बख़्श एक कमरे में बैठे बातें कर रहे थे। बातचीत के दौरान अहमद बख़्श ने कहा "मिर्ज़ा नौशा के परिवार की पेंशन अंग्रेजों ने स्वीकार कर ली है।"

इलाही बख़्श ने पूछा, "कितनी ?"

अहमद बख़्श बोले, "दस हजार रुपए सालाना।"

इलाही बख़्श ने कहा, "अब इन लोगों का काम अच्छी तरह चल जाएगा।"

इसी बीच इलाही बख़्श ने अहमद बख़्श से मिर्ज़ा नौशा के बारे में पूछा कि लड़का कैसा है। उन्होंने कहा, "बहुत अच्छा है। सुन्दर है, स्वस्थ है। ख़ूब होशियार है।"

"उमराव बेगम के लिए कैसा रहेगा ?"

"मेरे खयाल से बहुत अच्छा रहेगा।"

दोनों भाई अंतिम निश्चय पर पहुँच गए और बहुत शान के साथ मिर्ज़ा नौशा और उमराव बेगम की शादी हो गई। इस समय उनकी आयु १३ वर्ष और उमराव बेग़म की ११ वर्ष थी। इन दिनों बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। मिर्ज़ा नौशा घर जमाई बन कर अपनी ससुराल में ही रहने लगे।

शादी का जोश शुरू में खूब रहा, लेकिन जैसे दुखे हुए पाँव में ही बार-बार ठोकर लगती है वैसी ही दशा मिर्ज़ा की हुई। चाचा की आकस्मिक मृत्यु से मिर्ज़ा नौशा के जीवन में ऐसी पीड़ा उभरी कि वे सुखी जीवन में भी सुख का अनुभव न कर सके। इसी बीच माँ का भी देहांत हो गया। दो-तीन वर्ष के घर-जमाई के अनुभव ने उनके हृदय पर बहुत प्रभाव डाला। उन्हें घर-जमाई का जीवन पसंद न आया। इस समय उनकी उम्र १५-१६ वर्ष की होगी। तभी उन्हें पता चला कि उनकी पेंशन १०,००० वार्षिक से घटा कर ५,००० वार्षिक कर दी गई है। साथ ही ५,००० में से भी २,००० रुपए का साझीदार कोई ऐसा व्यक्ति बना दिया गया है जिससे उनका कोई संबंध नहीं था। इस प्रकार मिर्ज़ा नौशा के हिस्से में केवल ७५० रुपए वार्षिक पेंशन रह गई।

एक दिन मिर्ज़ा असद अहमद बख्श के पास पहुँचे और बोले, "हमने अपने मकान का अलग इंतज़ाम कर लिया है। आज से ही हम अपने मकान में जाना चाहते हैं। आप इजाज़त दे दीजिए।"

अहमद बख्श चकित हुए और बोले, "अभी तुम्हारी उम्र अलग रहकर घर सँभालने की नहीं है। अभी कुछ दिन और यहीं रहो।"

मिर्ज़ा नौशा स्वाभिमान और साहस के स्वर से बोले, "मैं बच्चा नहीं हूँ, मैंने अपने पैरों पर खड़ा होना सीख लिया है। हौसलामंद आदमी के लिए दुनिया में कोई काम मुश्किल नहीं है। मुझे इसका यक़ीन है।"

"जाओगे ज़रूर, मानोगे नहीं," अहमद बख्श ने कहा।

मिर्ज़ा नौशा ने विनीत भाव से कहा, "हाँ आप इजाज़त दे ही दें।"

अहमद बख्श ख़ाँ बोले, "जैसी तुम्हारी मर्ज़ी। हम चाहते थे अभी तुम यहीं

मिर्ज़ा ग़ालिब युवावस्था का एक रेखा चित्र

रहते। मिर्ज़ा ने व्यंगपूर्वक कहा, "आपकी बेइंतहा मेहरबानियाँ रही हैं। हम उनका एहसान नहीं भूल सकते। आप ही की वजह से हमें पेंशन मिली। पेंशन में कमी और उसका बटवारा भी आपके ही हाथों हुआ। आपने जैसा किया ठीक किया, लेकिन यह इंसाफ़ नहीं हुआ।" मिर्ज़ा अपनी पत्नी और भाई के साथ अलग मकान में चले गए।

मिर्ज़ा असद उल्ला खाँ बेग पेंशन की कमी तथा संबंधियों के अन्याय से आतंकित नहीं हुए। उनमें यौवन का उत्साह था। जीवन की बड़ी-बड़ी आकांक्षाएँ थीं। अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठाने की शक्ति थी। उन्होंने अपना रहन-सहन रईसाना रखा। बाहर तो शान-शौकत दिखाई पड़ती थी, लेकिन अंदर-ही-अंदर कवि चिंताग्रस्त रहता था।

सबसे बड़ी चिंता मिर्ज़ा को पेंशन की थी। पेंशन के झगड़े को लेकर लोहारु वंश के उनके रिश्तेदार भी दुश्मन हो गए थे। लेकिन मिर्ज़ा ने हार नहीं मानी। एक ओर वे अपनी विषम परिस्थितियों से संघर्ष करते रहे और दूसरी ओर अपनी शेरो शायरी से ख्याति प्राप्त करते रहे। धीरे-धीरे उनकी गिनती अच्छे शायरों में होने लगी। उन दिनों वे फ़ारसी गर्भित उर्दू में ग़ज़ल लिखते थे। शुरू में वे असद और बाद में ग़ालिब नाम से कविता लिखते थे। उनकी पेंशन का मामला गवर्नर-जनरल की कौंसिल में पेश होना था। इसलिए मिर्ज़ा ग़ालिब भी पेंशन के मामले की पैरवी के लिए कलकत्ता के लिए रवाना हुए।

भारत की राजधानी उन दिनों कलकत्ता थी। वहीं गवर्नर जनरल की कौंसिल की मीटिंग भी होती थी जिसमें मिर्ज़ा की पेंशन का मामला पेश होना था। उन्होंने अपने मामले की पैरवी के लिए कलकत्ता जाना तय किया। उस ज़माने में बस या रेल तो थी नहीं, यह यात्रा उन दिनों घोड़ों या घोड़ा-गाड़ी द्वारा होती थी। मिर्ज़ा मार्ग में कई नगरों में रुके और वहाँ के साहित्यिकों की गोष्ठी में भी सम्मिलित हुए। लखनऊ पहुँचे तो वहाँ उनका मन बहुत लगा।

मिर्ज़ा बहुत ही स्वाभिमानी प्रवृत्ति के थे। लखनऊ में ग़ालिब के मित्रों ने उनको

परामर्श दिया कि आप आग़ा मीर से मिलें। वे लखनऊ के शासन का काम देखते थे। आग़ा मीर ने भी मिर्ज़ा से मुलाकात की इच्छा प्रकट की।

मिलने की बात तो तय हो गई किन्तु मिर्ज़ा ने इच्छा प्रकट की कि मेरे पहुँचने पर आग़ा मीर खड़े होकर मेरा स्वागत करें। आग़ा मीर ने यह शर्त स्वीकार न की। मिर्ज़ा इतने स्वाभिमानी थे कि आग़ा मीर से मिलने नहीं गए।

मिर्ज़ा मित्रों पर सदा विश्वास करते थे। लखनऊ में ही मुंशी मुहम्मद हसन और रोशन उल्लौदा ने उनसे कहा कि हम आपका क़सीदा[1] अवध नवाब के दरबार तक पहुँचा देंगे। क़सीदा नवाब के पास पहुँचा दिया गया और अवध के नवाब ने मिर्ज़ा ग़ालिब को पाँच हज़ार रुपए इनाम देने का आदेश दिया। पुरस्कार मिला भी किंतु ग़ालिब को कौड़ी भी न मिली। उनके मित्रों ने यह पुरस्कार उड़ा लिया। जब वह ख़बर ग़ालिब तक पहुँची तो उन्होंने यह कहकर मन समझा लिया—

बना कर फ़कीरों का हम भेस ग़ालिब
तमाशाए अहले करम[2] के देखते हैं।

उन दिनों लखनऊ शायरी का अच्छा केंद्र था, लेकिन मिर्ज़ा ग़ालिब को यहाँ से निराश ही आगे जाना पड़ा।

यात्रा में कठिनाइयाँ बहुत आईं। किंतु वे साहस के साथ आगे बढ़ते गए। कई नगरों में होते हुए जब बनारस पहुँचे यो बनारस के जादू ने मिर्ज़ा को मुग्ध कर लिया। वहाँ के चित्ताकर्षक दृश्यों ने उनका मन मोह लिया। मिर्ज़ा ने बनारस में भी मित्र मंडली के साथ कुछ दिन गुज़ारे और चलते समय इन पंक्तियों में बनारस की बहुत प्रशंसा की—

इबादत ख़ानाए नाकूसियाँ अस्त।
हमाना काबए हिन्दोस्ताँ अस्त॥

---

१. किसी व्यक्ति की प्रशंसा में लिखी गई कविता
२. कृपालु लोग

तआलिल्ला बनारस चश्मे बददूर ।
बहिश्ते खुर्रमों फ़िरदौसे-मामूर ॥

यह शंख वादकों का उपासना-स्थल है। निश्चय ही यह हिन्दुस्तान का काबा है। पवित्र तीर्थ स्थान है।

हे प्रभु, बनारस को बुरी नज़र से बचाना। पृथ्वी पर यह एक लहलहाता आबाद स्वर्ग है।

बनारस के सौंदर्य की शुभ कामना करते हुए उन्होंने बनारस से बिदा ली और कलकत्ते की राह ली।

कलकत्ता अंग्रेज़ों की राजनीति का केंद्र था। कलकत्ता में नई वैज्ञानिक सभ्यता के दर्शन होते थे। वहाँ अनेक प्रकार की मशीनें थीं, जो भारतीयों के लिए अजीब थीं। मिर्ज़ा ग़ालिब जब कलकत्ता पहुँचे तो इस वैज्ञानिक संस्कृति से बहुत प्रभावित हुए। कलकत्ता के मुशायरों में भी मिर्ज़ा ग़ालिब ने भाग लिया। लेकिन उनका पूरा ध्यान पेंशन के मामले में लगा था।

कलकत्ता में ही एक बार उनके मित्र करम हुसैन ने मिर्ज़ा ग़ालिब से उनके कलकत्ता आने का उद्देश्य पूछा।

मिर्ज़ा ने अपनी पेंशन का सारा मामला करम हुसैन को सुनाया। कहा, "यह मामला गवर्नर-जनरल के यहाँ पेश है। कल उनके ख़ास सेक्रेटरी से मुलाक़ात का वक्त मुकर्रर हुआ है। लोहारु के सरदारों की मेहरबानी है कि इस मामले में कामयाबी ही नहीं मिल रही है।"

अगले दिन मिर्ज़ा मुख्य सचिव महोदय से मिलने उनके निवास पर पहुँचे। उसी समय करम हुसैन आ पहुँचे। अभिवादन के बाद दोनों बैठ गए। थोड़ी देर इधर-उधर की बात चली। करम हुसैन ने मिर्ज़ा से कहा, "आपको चिकनी सुपारी की डली बहुत पसंद है ना?" उस समय सचिव कहीं बाहर गए हुए थे। मिर्ज़ा ग़ालिब उनकी प्रतीक्षा कर ही रहे थे कि बोले—"हाँ बहुत पसंद है।" "लीजिए

हाज़िर है।" अपनी हथेली पर रख कर करम हुसैन ने कहा।

जैसे ही मिर्ज़ा ग़ालिब ने चिकनी डली लेने के लिए हाथ बढ़ाया। उन्होंने फौरन मुट्ठी बंद कर ली और बोले, "इस तरह भेंट नहीं मिलेगी। आपको चिकनी डली पर कविता कहनी पड़ेगी।" इतना कहा और मुट्ठी खोल दी।

उनकी हथेली पर चिकनी डली थी और मिर्ज़ा के होंठों पर आशु कविता—

है जो साहब के कफ़ेदस्त पे यह चिकनी डली,
जेब देता है इसे जिस क़दर अच्छा कहिए।
क्यों इसे गौहरे नायाब तसव्वुर कीजे।
क्यों इसे मर्दम की दीद—ए उन्क़ा कहिए।
बन्दा परवर के कफ़े–दस्त को दिल कीजिए फ़र्ज,
और इस चिकनी सुपारी की सुवेदा कहिए।

आपकी हथेली पर रखी हुई चिकनी सुपारी की डली बहुत सुंदर लगती है। अजीब मोती की कल्पना भी इसका जोड़ नहीं। उन्क़ा नामक काल्पनिक पक्षी की सुंदर आँखों की पुतली भी इसका मुकाबला नहीं कर सकती। श्रीमन्, आपकी हथेली को यदि हृदय मान लिया जाए तो इस चिकनी सुपारी को हृदय पर कल्पित एक काला चिह्न जानिए।

इस आशु कविता में प्रयुक्त उपमा एवं रूपक अलंकार की करम हुसैन प्रशंसा कर ही रहे थे कि मुख्य सचिव जार्ज स्विटन ने प्रवेश किया। उन्होंने दोनों का स्वागत किया। करम हुसैन को भी गले से लगाया, पान भेंट किए गए। अतिथियों को इत्र लगाया। कुशलता पूछी और अपने विशेष कमरे में ले गए।

मुख्य सचिव ने बताया, "दिल्ली के रेजीडेंट की रिपोर्ट आ गई है जो कि आपके पक्ष में है। गवर्नर-जनरल शिकार पर गए हुए हैं। जैसे ही वो वहाँ से लौटेंगे मैं आपका मामला उनके सामने पेश करूँगा। आपको अवश्य सफलता मिलेगी।" मिर्ज़ा ने कहा, "कामयाबी, आपकी नजरे-इनायत जो मुझ पर रहे यही मेरे लिए बहुत है।"

मिर्ज़ा ने कहा, "कामयाबी, आपकी नज़रे-इनायत जो मुझ पर रहे यही मेरे लिए बहुत है।"

स्विटन ने मिर्ज़ा ग़ालिब से कहा, "गवर्नर-जनरल आपको भली-भाँति जानते हैं। आपका भेजा हुआ क़सीदा उन्होंने बहुत पसंद किया। रही पेंशन की बात, सो आप निश्चिंत रहें। मैं आपको न्याय दिलवाने में मदद करूँगा।"

मिर्ज़ा खुशी-खुशी लौटे। किंतु उनकी यह खुशी ज्यादा समय नहीं टिकी। कलकत्ता में ही उन्हें पता चला कि दिल्ली के रेज़ीडेंट बदल गए हैं और अब नए रेज़ीडेंट से नई रिपोर्ट आवश्यक है। नए रेज़ीडेंट मिर्ज़ा के विपक्षियों के दोस्त थे।

दिल्ली से रिपोर्ट आने में कोई लाभ मिर्ज़ा को नहीं दिखा। उसमें सफलता मिलने की आशा नहीं रही। अफसरों ने उनका सत्कार किया, सहायता का वादा किया, पर कोई ठोस नतीजा नहीं निकला। मिर्ज़ा को यह आशा थी कि न्याय होगा किंतु डेढ़ साल कलकत्ता में रहकर भी उन्हें अपना काम बनता नज़र नहीं आया। निराशा उनके हर कलाम में झलकने लगी—

मुनहसिर[1] मरने पे हो जिसकी उमीद,
ना उमीदी उसकी देखा चाहिए।
रहिए अब ऐसी जगह चलकर जहाँ कोई न हो,
हम सुख़न कोई न हो और हम ज़ुबाँ कोई न हो।
बेदरो दीवार[2]-सा एक घर बनाया चाहिए,
कोई हमसाया न हो और पासबाँ[3] कोई न हो।
पड़िए गर बीमार तो कोई न हो तीमारदार[4],
और गर मर जाइए तो नौहाख्वाँ[5] कोई न हो।

निराशा और पलायन के भाव मन में करवट लेने लगे। किंतु कलकत्ता की नई संस्कृति के दर्शन से नया जोश तथा उत्साह मिला। वहाँ उन्होंने रेलगाड़ी, स्टीमर

---

१. आश्रित, टिकी हुई
२. बिना दीवार और द्वार वाला
३. पास रहने वाला
४. परिचर्या करने वाला
५. रोने वाला

तथा बिजली के पंखे देखे तो आँखें खुल गईं। मशीनी संस्कृति की चमक ने मिर्ज़ा पर बहुत प्रभाव डाला। वे परंपरा के दुर्ग ढाने लगे। वैसे वे पहले भी हर पुरानी बात को पुरानी होने के कारण मानने से इंकार करते थे।

मुख पर उदासी, हृदय में पीड़ा, प्राणों में व्याकुलता और अधरों पर कविता, इन्हीं निधियों को लिए हुए मिर्ज़ा ग़ालिब दिल्ली लौट आए।

ज़फ़र के दरबार में

दिल्ली की वही गली क़ासिम जान, वही किराए का मकान और वही दुखी पारिवारिक जीवन। मिर्ज़ा राजकुमारों की तरह पले थे। उनकी शादी भी लोहारू के राजवंश में हुई थी। नाना, चाचा, ससुर सब का जीवन राजसी ठाठ से गुज़रा था। मिर्ज़ा ने कठिनाइयों और मुसीबतों के बीच भी ऊपरी टीमटाम का जीवन बनाए रखा। इस काल की रईसी सभ्यता के लक्षण थे बाहरी टीमटाम, उदारता, काव्य-प्रेम, ऐंठ और साथ ही जी-हजूरी। साधन के न होते हुए भी मिर्जा ने इन बातों को अपनाए रखा। ऊपर से ठाठ-बाट और आर्थिक संकट ! यहाँ तक कि घर का सामान भी बाज़ार से उधार आने लगा। कर्ज़ बढ़ता रहा किंतु मित्र मंडली का वैसा ही सत्कार, वैसी ही दावतें चलती रहीं। कर्ज़दारों की भीड़ द्वार पर दस्तक देने लगी। लोगों को कुछ दिनों तक मिर्ज़ा यह आश्वासन देते रहते थे कि पेंशन मिलेगी और ऋण की अदायगी हो जाएगी किंतु इन दिनों पेंशन भी नहीं मिल रही थी।

लाचार होकर मिर्ज़ा ने नौकरी की बात सोची। उन दिनों दिल्ली कॉलेज दिल्ली की मशहूर शिक्षा संस्था थी। वहाँ फारसी के एक अच्छे उस्ताद की जरूरत थी। इस पद पर अपनी नियुक्ति के संबंध में मिर्ज़ा ग़ालिब कॉलेज की प्रबंधक कमेटी के सेक्रेट्री जेम्स थामसन के घर मिलने गए। पालकी फाटक पर रुकी, मिर्ज़ा उतरे और प्रतीक्षा करने लगे कि कोई उनका बाहर आकर स्वागत करे और अंदर ले जाए। क्योंकि ग़ालिब को गवर्नर के दरबार में सम्मान प्राप्त था। अतः वे इस प्रकार के स्वागत की आशा करते थे।

मिर्ज़ा प्रतीक्षा में खड़े रहे लेकिन स्वागत के लिए कोई नहीं आया। जब थामसन

को सूचना मिली उन्होंने मिर्ज़ा से पूछा, "आप पालकी से उतर कर भीतर क्यों नहीं चले गए?"

ग़ालिब ने अपनी समस्या बताई तो थामसन ने कहा, "आपका औपचारिक स्वागत तो तभी होगा जब आप गवर्नर के दरबार में जाएँगे। इस समय तो आपका वैसा ही स्वागत होगा जैसा होता रहा है। किंतु आप दिल्ली कॉलेज में नौकरी प्राप्त करने के लिए आए हैं। अतः आपको वैसे स्वागत की आशा नहीं करनी चाहिए।"

इससे मिर्ज़ा ग़ालिब की तीखी प्रतिक्रिया हुई। उन्होंने कहा, "मैंने सरकारी नौकरी का इरादा इसलिए किया था कि मेरी इज्ज़त कुछ बढ़े। इसलिए नहीं कि जो इज्ज़त है वह भी कम हो जाए।"

"हम कायदे से मजबूर हैं," थामसन ने जब कहा। "तो मुझे इस नौकरी से माफ़ रखा जाए," कहकर मिर्ज़ा पालकी में बैठकर लौट आए। ग़ालिब ने एक शेर में कहा है—

बंदगी में भी वह आज़ादा-वो-खुदबी है कि हम,
उल्टे फिर आएँ दरेकाबा अगर व न हुआ।

हम तो उपासना में भी इतने मुक्त भाव से स्वाभिमानी हैं कि यदि पवित्र काबे (इस्लामी तीर्थ स्थान) का द्वार न मिला तो हम वापिस लौट आएँगे।

इतना स्वाभिमानी व्यक्ति भला कॉलेज की नौकरी के लिए किसी के आगे सर कैसे झुकाता?

काले साहब नाम के एक संत सम्राट बहादुरशाह 'ज़फ़र' के धर्म-गुरु थे। उर्दू शायरी से उन्हें बहुत दिलचस्पी थी। उन दिनों दिल्ली में आए दिन मुशायरे होते रहते थे। मिर्ज़ा ग़ालिब काले साहब के प्रिय कवि थे। इब्राहीम "ज़ौक़" बहादुर शाह ज़फ़र के राजकवि तथा उस्ताद भी थे। शायरी में ज़ौक़ की उन दिनों तूती बोल रही थी। उनके अनगिनत शिष्य थे जो कभी-कभी मुशायरों में मिर्ज़ा ग़ालिब
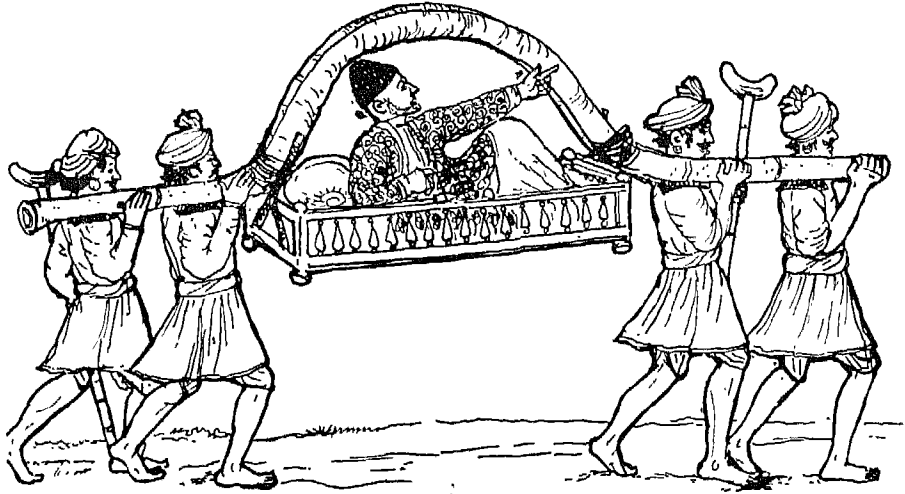
मिर्ज़ा पालकी में बैठकर लौट आए।

के विरोध में अशिष्ट प्रदर्शन करते थे। काले साहब को यह नापसंद था। काले साहब की पूरी सहानुभूति मिर्ज़ा से थी। मिर्ज़ा की सहायता करने की दृष्टि से उन्होंने मिर्ज़ा की सिफ़ारिश बहादुरशाह ज़फ़र से की।

बादुरशाह ज़फ़र ने उनको अपने दरबार में मुग़ल काल का इतिहास फ़ारसी में लिखने के लिए नियुक्त किया। पचास रुपए मासिक वेतन तय किया गया।

मिर्ज़ा ग़ालिब जी-तोड़ मेहनत करने लगे। उनके द्वारा लिखित इतिहास की प्रशंसा भी होने लगी। लेकिन आर्थिक संकट ज्यों-का-त्यों बना रहा। वेतन कभी मिलता तो कभी नहीं। मुग़ल दरबार की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। खुद बादशाह ही अंग्रेज़ों की पेंशन पर जिंदा था। ग़ालिब को कभी-कभी महीनों वेतन

नहीं मिलता था। संकट की इन घड़ियों में मिर्ज़ा ग़ालिब घबरा कर कभी-कभी तो खुदा से प्रार्थना करते—

मुझको वह दो कि जिसे खाके न पानी माँगूँ,
ज़हर कुछ और सही, आ बे[1] बका और कही।

(हे करुणामय ! मुझे अमृत या विष कुछ दो। जिसे पीने के पश्चात् सदा के लिए मेरी प्यास तृप्त हो जाए। क्योंकि अमृत पीने वाले को फिर प्यास नहीं लगती। विष पीने वाला पुनः पानी नहीं माँगता।)

इन दिनों की शायरी में ऐसे ही भाव थे—

ज़िंदगी अपनी जब इस शक्ल
से गुज़री ग़ालिब
हम भी क्या याद करेंगे,
कि खुदा रखते थे।

इस प्रकार की शायरी से मन-बहलाव तो होता किंतु आर्थिक संकट से छुटकारा नहीं मिलता। एक दिन जब नहीं रहा गया तो उन्होंने अपने दिल के भावों को कविता के रूप में लिखा जिसे लेकर वे दरबार में गए। वहाँ सम्राट् ज़फ़र की शान में यह कविता पढ़ी—

ऐ शहंशाहे-आसमाँ—औरंग,[2]
ऐ जहाँ दारे—आफ़ताब[3]—आसार।
तुमने मुझ को जो आबरू[4] बख्शी,
हुई मेरी वह गर्मि-ए-बाजार।
मेरी तनख्वाह जो मुक़र्रर[5] है,

---

१. अमृत
२. शाही तख्त ३. सूर्य
४. आदर ५. तय की

उसके मिलने का है अजब हंजार[1]।
मेरी तनख्वाह में तिहाई का,
हो गया है शरीक साहूकार।
आपका बंदा और फिरूँ नंगा,
आपका नौकर और खाऊँ उधार।
मेरी तनख्वाह कीजे माह-ब-माह,
ता न हो मुझको जिंदगी दुश्वार[2]
तुम सलामत रहो हज़ार बरस,
हर बरस के दिन हों पचास हज़ार।

कविता सुनकर सम्राट् बहुत प्रसन्न हुए। तभी आदेश दिया कि मिर्ज़ा ग़ालिब को प्रतिमाह वेतन दिया जाए।

शायर के रूप में मिर्ज़ा ग़ालिब की काव्य-प्रतिभा की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई थी। उर्दू काव्य में गुरु-शिष्य परंपरा चलती थी। मिर्ज़ा ग़ालिब के भी बहुत से शिष्य थे। जिनकी कविता को वे सँवारते रहते थे। मिर्ज़ा ग़ालिब ऐसी इसलाह शिष्यों पर थोपते नहीं थे। वे इसलाह देते थे कि जिससे कवि का व्यक्तित्व न मारा जाए। उनके कुछ प्रमुख शिष्यों में से एक थे नवाब शेफ़्ता जो स्वयं फ़ारसी के मशहूर विद्वान् थे। दूसरे थे हरगोपाल 'तुफ़ता'। वे बुलंदशहर ज़िले की तहसील सिकंदराबाद में मुंशी के पद पर कार्य करते थे। वे फ़ारसी, संस्कृत तथा उर्दू के अच्छे विद्वान् थे। मिर्ज़ा ग़ालिब भी उन्हें बहुत मानते थे।

तीसरे लोहारू वंश के ज़ियाउद्दीन, जो प्रायः उनके यहाँ आते रहते थे। एक दिन ज़ियाउद्दीन, मिर्ज़ा तुफ़ता, नवाब शेफ्ता, आरिफ़ और मिर्ज़ा ग़ालिब मिर्ज़ा की बैठक में बैठे थे। काव्य-गोष्ठी चल रही थी। गोष्ठी समाप्त हुई तब ज़ियाउद्दीन बोले, "उस्ताद, जौक के दल वाले आपकी बहुत बुराई करते हैं। इस दलबंदी से उर्दू अदब (साहित्य) को बहुत नुक़सान पहुँचेगा।" बच्चों की बात पर जैसे बड़े

१. झगड़ा २. कठिन

मुस्कराते हैं ऐसी ही मुस्कराहट के साथ मिर्ज़ा ग़ालिब ने समझाते हुए कहा, लेकिन तुम इससे प्रेरणा लेकर अच्छा लिखना सीखो। अदब जिस्मानी ताक़त के मुज़ाहिरे का मैदान नहीं है, ,,ज़िया। कामरानी क़लम के सहारे मिलती है, तलवार के सहारे नहीं। तुम फ़िज़ूल की बातें मत सुना करो। अपनी सारी मेहनत अच्छी शायरी लिखने में लगाओ। भूल जाओ कि कौन क्या कहता है।"

न सुनो गर बुरा कहे कोई,
न कहो गर बुरा करे कोई,
रोक लो गर ग़लत चले कोई,
बख्श दो गर ख़ता करे कोई।

शिष्यों ने मिर्ज़ा की महानता की दाद दी। उन्हीं दिनों ज़फ़र के बेटे जवाँ बख़्त की शादी होने वाली थी। शिष्यों ने ग़ालिब से पूछा, "आपने जवाँ बख़्त का सेहरा फ़ारसी में लिखा है या उर्दू में।"

मिर्ज़ा बोले, "उर्दू में लिखा है।"

मिर्ज़ा तुफ़ता बोले, "क्या ज़ौक भी सेहरा सुनाएँगे ?"

"मुझे मालूम नहीं", मिर्ज़ा ग़ालिब ने जहा, "मैंने यह सेहरा किसी मुक़ाबिले के लिए नहीं लिखा है। मुमकिन है बादशाह को सेहरा पसंद आ जाए। उनकी खुशी से कुछ माली (आर्थिक) फायदा हो जाए। आप लोगों को भी तो कल के लिए दरबार का दावतनामा आया होगा।"

सबने एक स्वर में कहा, "जी हाँ।"

मिर्ज़ा बोले, "आप लोग अवश्य पहुँचें। आप लोगों को भी मैं यह सेहरा वहीं सुनाऊँगा।"

अगले दिन सम्राट् ज़फ़र का शाही दरबार लगा। सभी दरबारी अपनी-अपनी पोशाक में अपने-अपने स्थान पर विराजमान थे। एक ओर कवि इब्राहीम ज़ौक बैठे थे। उनके पास आग़ा जान ऐश बैठे थे। जवाँ बख़्त भी वहीं आ गए, और बोले

"आग़ा साहब, अपना वह क़ता सुनाइए जो आपने मिर्ज़ा ग़ालिब की शायरी पर कहा है। वास्तव में मिर्ज़ा के सुख़न पर इससे बढ़कर तनक़ीद (आलोचना) नहीं हो सकती।"

इब्राहीम ज़ौक ने टोका और कहा, "आज तुम्हारी शादी का दिन है और मिर्ज़ा सेहरा पढ़ने वाले हैं। यह ज़िक्र छोड़िए।"

लेकिन जवाँ बख़्त नहीं माने और आग़ा जान ऐश से पुनः आग्रह किया। आग़ा जान बोले—

अगर अपना कहा तुम आप ही समझे तो क्या समझे।
मज़ा कहने का यह है इक कहे और दूसरा समझे॥
कलामे 'मीर' समझे हम ज़बाने मीरजा समझे।
मगर इनका कहा यह आप समझें या खुदा समझे॥

ज़ौक ने कहा, "ग़ालिब का सुख़न कुछ सक़ील (क्लिष्ट) ज़रूर हो गया है। लेकिन बहुत अच्छा लिखते हैं।

बातचीत चल ही रही थी कि इसी बीच मिर्ज़ा ग़ालिब भी दरबार में आ गए।

तभी पेशवान ने उच्च स्वर में सम्राट के आगमन की सूचना दी। सम्राट के आगमन पर सबने खड़े होकर फ़र्शी सलाम किया। फिर सबने आसन ग्रहण किए।

सम्राट की अनुमति से मिर्ज़ा ग़ालिब ने सेहरा पेश किया—

खुश हो ऐ बख्त ! कि है आज तेरे सर सेहरा,
बाँध शहज़ादे जवाँ बख्त के सर पर सेहरा।
क्या ही इस चाँद से मुखड़े पे भला लगता है,
है तिरे हुस्ने दिल—अफ़रोज़ का ज़ेवर सेहरा।
नाव भर कर ही पिरोए गए होंगे मोती,
वर्ना क्यों लाए हैं कश्ती में लगाकर सेहरा।

सात दरिया के फराहम[1] किए होंगे मोती,
तब बना होगा इस अंदाज़ का गजभर सेहरा।
ये भी इक बेअदबी थी क़बा[2] से बढ़ जाय,
रह गया आन के दामन के बराबर सेहरा।
हम सुखन-फ़हम[3] हैं 'ग़ालिब' के तरफ़दार नहीं,
देखें कहदे कोई इस सेहरे से बढ़कर सेहरा॥

ज़ौक और उनके साथी मिर्ज़ा ग़ालिब के विरोध में रहते ही थे। इस मौके पर ज़फ़र को भी चढ़ा दिया कि अंतिम पंक्ति का छींटा ज़ौक पर किया गया है :

बादशाह ज़फ़र ने अपने गुरु ज़ौक से कहा, "मिर्ज़ा का इशारा आपकी ओर है। सेहरा आपकी तरफ़ से भी होना चाहिए।"

इब्राहीम ज़ौक ने कहा, "पीर, मुर्शिद, दुरस्त, ज़रूर लिखूँगा हुज़ूर।"

फिर ज़ौक भी एक सेहरा लिख लाए—

ऐ जवाँ बख्त[4] ! मुबारक[5] तुझे सर पर सेहरा,
आज है युमनों[6] सआदत[7] का तेरे सर सेहरा।
दुरे खुश-आबे-मज़ामीं[8] से बना कर लाया,
वास्ते तेरे तेरा ज़ौके सनागर[9] सेहरा।
जिसको दावा है सुख़न का यह सुनादे उसको,
देख इस तरह से कहते हैं सुखनवर[10] सेहरा।

---

१. प्राप्त
२. वेषभूषा
३. कविता समझने वाला
४. भाग्य
५. हृदय को प्रकाशित करने वाला सौन्दर्य
६. बरकत
७. प्रताप
८. ख़यालों के आबदार मोती
९. प्रशंसक
१०. श्रेष्ठ कवि

हम सुखन-फ़हम हैं 'ग़ालिब' के तरफ़दार नहीं, देखें कह दे कोई इस सेहरे से बढ़कर सेहरा।

ज़ौक के मित्रों ने इस सेहरे की बहुत सराहना की। सम्राट ज़फ़र को भी बहुत पसंद आया। मिर्ज़ा ने सम्राट को प्रसन्न करने के लिए सेहरा लिखा था किंतु परिणाम बिलकुल उल्टा रहा। तब मिर्ज़ा ने कविता लिखी—

मंजूर है गुज़ारिशे अहवाले वाक़ई[1],
अपना बयान हुस्ने-तबीयत नहीं मुझे[2]।
सौ पुश्त से हैं पेशए-आबा[3] सिपहगरी,
कुछ शायरी ज़रीय-ए इज्ज़त नहीं मुझे।
उस्तादे शह[4] से हो मुझे पुरख़ाश[5] का ख़याल
यह ताब, यह मजाल, यह ताक़त नहीं मुझे।
मकते में आ पड़ी है सुखन गुस्तराना[6] बात,
मक़सूद[7] इससे फ़ितऐ मुहब्बत नहीं मुझे।
रूए सुख़न किसी की तरफ़ हो तो रुसियाह,
सौदा[8] नहीं, जुनूँ[9] नहीं, वहश्त[10] नहीं मुझे।

मिर्ज़ा ग़ालिब आर्थिक लाभ के चक्कर में सेहरा लेकर गए थे। लौटे सम्राट की नाराज़गी लेकर। किले की नौकरी छूट गई, यद्यपि नौकरी छूटने का कारण सम्राट के पास धन का अभाव था। उधर पेंशन के मामले पर कोई निर्णय न हो सका था। मिर्ज़ा ग़ालिब के जीवन में मुसीबतों के पहाड़ पर पहाड़ टूटकर गिरते रहे लेकिन मिर्ज़ा ठाट-बाट का जीवन बिताते रहे। ठाट-बाट तो अब भी कम न हुआ, जो कुछ पास था वह सब समाप्त हो गया। धीरे-धीरे घर-गृहस्थी की चीज़ें बिकने लगीं। निर्धनता के बुरे दिनों ने घर में डेरा डाल दिया।

---

१. सच्ची बात को निवेदन कर देना आवश्यक है
२. अपनी कथा कहना वैसे मेरे स्वभाव में नहीं है
३. पूर्वजों का पेशा
४. बादशाह के गुरु ५. झगड़ा
६. काव्योचित अतिशयोक्ति
७. अभीष्ट
८. काला मुँह
९. किसी को लक्ष्य करके लिखी गई
१०. उन्माद, पागलपन

चोट पर चोट

ग़ालिब को दूसरा दुख यह भी था कि उनके कोई सन्तान नहीं थी। उनके सात-आठ बच्चे हुए लेकिन सब कम उम्र में ही मर गए। इस दुख को दूर करने के लिए उन्होंने अपनी पत्नी के भानजे को गोद लिया जो 'आरिफ़' नाम से उर्दू की शायरी भी करते थे। मिर्ज़ा 'आरिफ़' को बहुत प्यार करते थे और उसकी शेरो शायरी सँवारते और अपना मन बहलाते थे।

मिर्ज़ा ग़ालिब की आर्थिक कठिनाइयाँ बढ़ती ही गईं। एक के बाद एक और नई चोट उनकी पीड़ा को और अधिक बढ़ाती गई। मिर्ज़ा को शतरंज और चौसर खेलने का तो शौक था ही। अब उनके घर पर पैसों की बाज़ी लगाकर चौसर होने लगी। जुए के इसी अपराध में उनको ६ माह की सज़ा हुई और कुछ आर्थिक दंड भी मिला। जुर्माना की रक़म तो नवाब शेफ़्ता ने अदा कर दी लेकिन जेलखाने से आज़ाद न करा सके। मिर्ज़ा को बुढ़ापे में जेल रहने से बहुत धक्का लगा। उनका दुखी जीवन और दुखी हो गया।

हालाँकि जेल में उन्हें सब सुख था। उनका खाना घर से आता था। मिलने वाले भी उनसे मिलते रहते थे। इतने इज्ज़तदार आदमी का जेल जाना बहुत शर्म की बात थी। मिर्ज़ा पर उस जुर्म से स्वभावतः गंभीर प्रभाव पड़ा। इन दिनों उनकी शायरी में भी करुणा का स्वर और बढ़ गया। उनके काव्य में पीड़ा का स्वर जो मिलता है वह इन्हीं सब बातों की देन है।

मिर्ज़ा ग़ालिब कारागार की अवधि समाप्त करके घर आ गए। इब्राहीम ज़ौक का देहांत हो चुका था। उनके स्थान पर मिर्ज़ा ग़ालिब को सम्राट बहादुरशाह ज़फ़र ने राज कवि बनाया। अवध नरेश के यहाँ से भी कुछ आर्थिक सहायता मिली। दो-

अब उनके घर पैसों की बाज़ी लगाकर चौसर होने लगी।

तीन वर्ष सुख से बिताए। किंतु जब अवध पर अंग्रेज़ों का अधिकार हो गया तो अवध नरेश ग़ालिब की सहायता न कर सके। घर के आँगन में निर्धनता ने फिर तांडव प्रारंभ कर दिया। इन्हीं दिनों 'आरिफ़' का भी देहांत हो गया। 'आरिफ़' की मृत्यु ने मिर्ज़ा ग़ालिब के हृदय पर बहुत ही गहरी चोट पहुँचाई। इस बुढ़ापे में

एक ही तो मन लगाने का सहारा था वह भी चल बसा । आरिफ़ की मृत्यु पर उन्होंने एक शोक गीत लिखा——

लाज़िम था कि देखो मेरा रस्ता कोई दिन और ,
तनहा गए क्यों अब रहो तनहा कोई दिन और ।
आए हो कल और आज ही कहते हो कि जाऊँ,
माना कि नहीं आज से अच्छा कोई दिन और ।
जाते हुए कहते हो क़यामत को मिलेंगे,
क्या ख़ूब क़यामत का है गोया कोई दिन और ।
नादाँ हो जो कहते हो कि क्यों जीते हो 'ग़ालिब'
क़िस्मत है कि मरने की तमन्ना कोई दिन और ।

मिर्ज़ा ग़ालिब को जीवन में दुख ही दुख मिला । किंतु जीवन की प्यास ने उनके प्राण और हृदय को सदा जीवित रखा । उन्होंने दुखों की चुनौती स्वीकार की । सदा उनसे संघर्ष करते रहे । मुसीबतों के सामने कभी हथियार नहीं डाले यद्यपि उनके गंभीर स्वभाव में अब पीड़ा झलकने लगी थी । उन दिनों के उनके कलाम के कुछ अंश प्रस्तुत हैं——

है सबज़ाज़ार हर दरो दीवारे ग़म कदा,
जिसकी बहार यह हो फिर उसकी ख़िज़ाँ न पूछ ।

बहुत समय से वीरानी के कारण हमारे दुख पूर्ण घर के द्वार और दीवार भी लंबी-लंबी घास दिखाई देते है । जब यही इस घर की बहार है तब पतझड़ का हाल क्या पूछते हो ।

जिसे नसीब हो रोज़े सियाह मेरा-सा,
वह शख्स दिन कहे रात को तो क्यों कर हो ।

जिसको मेरे जैसे काले दिन प्राप्त हों,वह विवश है कि दिन को रात कहे क्योंकि ऐसा काला दिन, दिन तो कहा नहीं जा सकता ।

ज़िंदगी अपनी जब इस शक्ल से गुज़री 'ग़ालिब',
हम भी क्या याद करेंगे कि ख़ुदा रखते थे।

जब हमारी जिंदगी ऐसे बुरे हाल में गुज़री कि कभी कोई इच्छा पूरी नहीं हुई तो हम भी क्या याद करेंगे कि हमारा भी खुदा था।

मिर्ज़ा बहुत उदार स्वभाव के व्यक्ति थे। उन दिनों भी भिखारियों की कमी न थी। उनके घर से कोई निराश नहीं लौटता। वह दूसरों को भीख माँगते देख कराह उठते थे—

न वह दस्तागह कि एक आलम का मेज़बान बन जाऊँ,
अगर तमाम आलम में न हो सके न सही।

वे कहते कि जिस शहर में रहूँ उस शहर में तो कोई नंगा-भूखा नज़र न आए। वह जो किसी को भीख माँगते न देख सके और खुद दर-बदर भीख माँगे वह मैं हूँ। एक दिन किसी ने चौखट पर दस्तक दी। मिर्ज़ा ने कल्लू को बुलाया और कहा, "देखिए दरवाज़े पर कौन है।"

कल्लू एक फ़कीर के साथ दरवाज़े पर आए। फ़कीर एक हरमोनियम लिए हुए था। उसने मिर्ज़ा को सलाम किया।

मिर्ज़ा ने पूछा, "मैं तुम्हारी क्या खिदमत करूँ?"

फ़कीर बोला, "आप का दिया सब है। शायद आपने मुझे पहिचाना नहीं। मैं ख़ान बाबा हूँ। आपने जो रुपए दिए थे उनसे मैंने यह हरमोनियम ख़रीद लिया है। आपके दीवान की ग़ज़लें गाता हूँ। खुदा की मेहरबानी से मेरे आर्थिक संकट के दिन दूर हो गए हैं।"

मिर्ज़ा बहुत प्रसन्न थे कि उनकी ग़ज़लों से किसी का उपकार हुआ है। मिर्ज़ा ने ख़ान बाबा से एक ग़ज़ल सुनाने का आग्रह किया। ख़ान बाबा ने मधुर तान में मधुर धुन में सुनाना शुरू किया—

"आग़ा साहब, अपना वह क़ता सुनाइए जो आपने मिर्ज़ा ग़ालिब की शायरी पर कहा है। वास्तव में मिर्ज़ा के सुख़न पर इससे बढ़कर तनक़ीद (आलोचना) नहीं हो सकती।"

इब्राहीम ज़ौक ने टोका और कहा, "आज तुम्हारी शादी का दिन है और मिर्ज़ा सेहरा पढ़ने वाले हैं। यह ज़िक्र छोड़िए।"

लेकिन जवाँ बख़्त नहीं माने और आग़ा जान ऐश से पुनः आग्रह किया। आग़ा जान बोले—

अगर अपना कहा तुम आप ही समझे तो क्या समझे।
मज़ा कहने का यह है इक कहे और दूसरा समझे॥
कलामें 'मीर' समझे हम ज़बाने मीरजा समझे।
मगर इनका कहा यह आप समझें या ख़ुदा समझे॥

ज़ौक ने कहा, "ग़ालिब का सुख़न कुछ सक़ील (क्लिष्ट) ज़रूर हो गया है। लेकिन बहुत अच्छा लिखते हैं।

बातचीत चल ही रही थी कि इसी बीच मिर्ज़ा ग़ालिब भी दरबार में आ गए।

तभी पेशवान ने उच्च स्वर में सम्राट के आगमन की सूचना दी। सम्राट के आगमन पर सबने खड़े होकर फ़र्शी सलाम किया। फिर सबने आसन ग्रहण किए।

सम्राट की अनुमति से मिर्ज़ा ग़ालिब ने सेहरा पेश किया—

खुश हो ऐ बख़्त ! कि है आज तेरे सर सेहरा,
बाँध शहज़ादे जवाँ बख़्त के सर पर सेहरा।
क्या ही इस चाँद से मुखड़े पे भला लगता है,
है तिरे हुस्ने दिल—अफ़रोज़ का ज़ेवर सेहरा।
नाव भर कर ही पिरोए गए होंगे मोती,
वर्ना क्यों लाए हैं कश्ती में लगाकर सेहरा।

सात दरिया के फराहम[1] किए होंगे मोती,
तब बना होगा इस अंदाज़ का गजभर सेहरा।
ये भी इक बेअदबी थी क़बा[2] से बढ़ जाय,
रह गया आन के दामन के बराबर सेहरा।
हम सुखन-फ़हम[3] हैं 'ग़ालिब' के तरफ़दार नहीं,
देखें कहदे कोई इस सेहरे से बढ़कर सेहरा॥

ज़ौक और उनके साथी मिर्ज़ा ग़ालिब के विरोध में रहते ही थे। इस मौके पर ज़फ़र को भी चढ़ा दिया कि अंतिम पंक्ति का छींटा ज़ौक पर किया गया है :

बादशाह ज़फ़र ने अपने गुरु ज़ौक से कहा, "मिर्ज़ा का इशारा आपकी ओर है। सेहरा आपकी तरफ़ से भी होना चाहिए।"

इब्राहीम ज़ौक ने कहा, "पीर, मुर्शिद, दुरस्त, ज़रूर लिखूँगा हुज़ूर।"

फिर ज़ौक भी एक सेहरा लिख लाए—

ऐ जवाँ बख्त[4]! मुबारक[5] तुझे सर पर सेहरा,
आज है युमनों[6] सआदत[7] का तेरे सर सेहरा।
दुरे खुश-आबे-मज़ामीं[8] से बना कर लाया,
वास्ते तेरे तेरा ज़ौके सनागर[9] सेहरा।
जिसको दावा है सुख़न का यह सुनादे उसको,
देख इस तरह से कहते हैं सुखनवर[10] सेहरा।

---

१. प्राप्त
२. वेषभूषा
३. कविता समझने वाला
४. भाग्य
५. हृदय को प्रकाशित करने वाला सौन्दर्य
६. बरकत
७. प्रताप
८. खयालों के आबदार मोती
९. प्रशंसक
१०. श्रेष्ठ कवि

हम सुखन-फ़हम हैं 'ग़ालिब' के तरफ़दार नहीं, देखें कह दे कोई इस सेहरे से बढ़कर सेहरा।

ज़ौक के मित्रों ने इस सेहरे की बहुत सराहना की। सम्राट ज़फ़र को भी बहुत पसंद आया। मिर्ज़ा ने सम्राट को प्रसन्न करने के लिए सेहरा लिखा था किंतु परिणाम बिलकुल उल्टा रहा। तब मिर्ज़ा ने कविता लिखी—

मंजूर है गुज़ारिशे अह्वाले वाक़ई[1],
अपना बयान हुस्ने-तबीयत नहीं मुझे[2]।
सौ पुश्त से हैं पेशए-आबा[3] सिपहगरी,
कुछ शायरी ज़रीय-ए इज्ज़त नहीं मुझे।
उस्तादे शह[4] से हो मुझे पुरख़ाश[5] का ख़याल
यह ताब, यह मजाल, यह ताक़त नहीं मुझे।
मकते में आ पड़ी है सुखन गुस्तराना[6] बात,
मक़सूद[7] इससे फ़ितऐ मुहब्बत नहीं मुझे।
रूए सुख़न किसी की तरफ़ हो तो रुसियाह,
सौदा[8] नहीं, जुनूँ[9] नहीं, बह्श्त[10] नहीं मुझे।

मिर्ज़ा ग़ालिब आर्थिक लाभ के चक्कर में सेहरा लेकर गए थे। लौटे सम्राट की नाराज़गी लेकर। किले की नौकरी छूट गई, यद्यपि नौकरी छूटने का कारण सम्राट के पास धन का अभाव था। उधर पेंशन के मामले पर कोई निर्णय न हो सका था। मिर्ज़ा ग़ालिब के जीवन में मुसीबतों के पहाड़ पर पहाड़ टूटकर गिरते रहे लेकिन मिर्ज़ा ठाट-बाट का जीवन बिताते रहे। ठाट-बाट तो अब भी कम न हुआ, जो कुछ पास था वह सब समाप्त हो गया। धीरे-धीरे घर-गृहस्थी की चीजें बिकने लगीं। निर्धनता के बुरे दिनों ने घर में डेरा डाल दिया।

---

१. सच्ची बात को निवेदन कर देना आवश्यक है
२. अपनी कथा कहना वैसे मेरे स्वभाव में नहीं है
३. पूर्वजों का पेशा
४. बादशाह के गुरु ५. झगड़ा
६. काव्योचित अतिशयोक्ति
७. अभीष्ट
८. काला मुँह
९. किसी को लक्ष्य करके लिखी गई
१०. उन्माद, पागलपन

चोट पर चोट

ग़ालिब को दूसरा दुख यह भी था कि उनके कोई सन्तान नहीं थी। उनके सात-आठ बच्चे हुए लेकिन सब कम उम्र में ही मर गए। इस दुख को दूर करने के लिए उन्होंने अपनी पत्नी के भानजे को गोद लिया जो 'आरिफ़' नाम से उर्दू की शायरी भी करते थे। मिर्ज़ा 'आरिफ़' को बहुत प्यार करते थे और उसकी शेरो शायरी सँवारते और अपना मन बहलाते थे।

मिर्ज़ा ग़ालिब की आर्थिक कठिनाइयाँ बढ़ती ही गईं। एक के बाद एक और नई चोट उनकी पीड़ा को और अधिक बढ़ाती गई। मिर्ज़ा को शतरंज और चौसर खेलने का तो शौक था ही। अब उनके घर पर पैसों की बाज़ी लगाकर चौसर होने लगी। जुए के इसी अपराध में उनको ६ माह की सज़ा हुई और कुछ आर्थिक दंड भी मिला। जुर्माना की रक़म तो नवाब शेफ़्ता ने अदा कर दी लेकिन जेलखाने से आज़ाद न करा सके। मिर्ज़ा को बुढ़ापे में जेल रहने से बहुत धक्का लगा। उनका दुखी जीवन और दुखी हो गया।

हालाँकि जेल में उन्हें सब सुख था। उनका खाना घर से आता था। मिलने वाले भी उनसे मिलते रहते थे। इतने इज्ज़तदार आदमी का जेल जाना बहुत शर्म की बात थी। मिर्ज़ा पर उस जुर्म से स्वभावतः गंभीर प्रभाव पड़ा। इन दिनों उनकी शायरी में भी करुणा का स्वर और बढ़ गया। उनके काव्य में पीड़ा का स्वर जो मिलता है वह इन्हीं सब बातों की देन है।

मिर्ज़ा ग़ालिब कारागार की अवधि समाप्त करके घर आ गए। इब्राहीम ज़ौक का देहांत हो चुका था। उनके स्थान पर मिर्ज़ा ग़ालिब को सम्राट बहादुरशाह ज़फ़र ने राज कवि बनाया। अवध नरेश के यहाँ से भी कुछ आर्थिक सहायता मिली। दो-

अब उनके घर पैसों की बाजी लगाकर चौसर होने लगी।

तीन वर्ष सुख से बिताए। किंतु जब अवध पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया तो अवध नरेश ग़ालिब की सहायता न कर सके। घर के आँगन में निर्धनता ने फिर तांडव प्रारंभ कर दिया। इन्हीं दिनों 'आरिफ़' का भी देहांत हो गया। 'आरिफ़' की मृत्यु ने मिर्ज़ा ग़ालिब के हृदय पर बहुत ही गहरी चोट पहुँचाई। इस बुढ़ापे में

एक ही तो मन लगाने का सहारा था वह भी चल बसा। आरिफ़ की मृत्यु पर उन्होंने एक शोक गीत लिखा——

लाज़िम था कि देखो मेरा रस्ता कोई दिन और,
तनहा गए क्यों अब रहो तनहा कोई दिन और।
आए हो कल और आज ही कहते हो कि जाऊँ,
माना कि नहीं आज से अच्छा कोई दिन और।
जाते हुए कहते हो क़यामत को मिलेंगे,
क्या ख़ूब क़यामत का है गोया कोई दिन और।
नादाँ हो जो कहते हो कि क्यों जीते हो 'ग़ालिब'
क़िस्मत है कि मरने की तमन्ना कोई दिन और।

मिर्ज़ा ग़ालिब को जीवन में दुख ही दुख मिला। किंतु जीवन की प्यास ने उनके प्राण और हृदय को सदा जीवित रखा। उन्होंने दुखों की चुनौती स्वीकार की। सदा उनसे संघर्ष करते रहे। मुसीबतों के सामने कभी हथियार नहीं डाले यद्यपि उनके गंभीर स्वभाव में अब पीड़ा झलकने लगी थी। उन दिनों के उनके कलाम के कुछ अंश प्रस्तुत हैं—

है सबज़ाज़ार हर दरो दीवारे ग़म कदा,
जिसकी बहार यह हो फिर उसकी ख़िज़ाँ न पूछ।

बहुत समय से वीरानी के कारण हमारे दुख पूर्ण घर के द्वार और दीवार भी लंबी-लंबी घास दिखाई देते है। जब यही इस घर की बहार है तब पतझड़ का हाल क्या पूछते हो।

जिसे नसीब हो रोज़े सियाह मेरा-सा,
वह शख़्स दिन कहे रात को तो क्यों कर हो।

जिसको मेरे जैसे काले दिन प्राप्त हों,वह विवश है कि दिन को रात कहे क्योंकि ऐसा काला दिन, दिन तो कहा नहीं जा सकता।

ज़िंदगी अपनी जब इस शक्ल से गुज़री 'ग़ालिब',
हम भी क्या याद करेंगे कि खुदा रखते थे।

जब हमारी जिंदगी ऐसे बुरे हाल में गुज़री कि कभी कोई इच्छा पूरी नहीं हुई तो हम भी क्या याद करेंगे कि हमारा भी खुदा था।

मिर्ज़ा बहुत उदार स्वभाव के व्यक्ति थे। उन दिनों भी भिखारियों की कमी न थी। उनके घर से कोई निराश नहीं लौटता। वह दूसरों को भीख माँगते देख कराह उठते थे—

न वह दस्तागह कि एक आलम का मेज़बान बन जाऊँ,
अगर तमाम आलम में न हो सके न सही।

वे कहते कि जिस शहर में रहूँ उस शहर में तो कोई नंगा-भूखा नज़र न आए। वह जो किसी को भीख माँगते न देख सके और खुद दर-बदर भीख माँगे वह मैं हूँ। एक दिन किसी ने चौखट पर दस्तक दी। मिर्ज़ा ने कल्लू को बुलाया और कहा, "देखिए दरवाज़े पर कौन है।"

कल्लू एक फ़कीर के साथ दरवाज़े पर आए। फ़कीर एक हरमोनियम लिए हुए था। उसने मिर्ज़ा को सलाम किया।

मिर्ज़ा ने पूछा, "मैं तुम्हारी क्या खिदमत करूँ?"

फ़कीर बोला, "आप का दिया सब है। शायद आपने मुझे पहिचाना नहीं। मैं ख़ान बाबा हूँ। आपने जो रुपए दिए थे उनसे मैंने यह हरमोनियम ख़रीद लिया है। आपके दीवान की ग़जलें गाता हूँ। खुदा की मेहरबानी से मेरे आर्थिक संकट के दिन दूर हो गए हैं।"

मिर्ज़ा बहुत प्रसन्न थे कि उनकी ग़ज़लों से किसी का उपकार हुआ है। मिर्ज़ा ने ख़ान बाबा से एक ग़ज़ल सुनाने का आग्रह किया। ख़ान बाबा ने मधुर तान में मधुर धुन में सुनाना शुरू किया—

उन्हीं दिनों मिर्ज़ा ग़ालिब की पत्नी न सुरक्षा की दृष्टि से घर के सब आभूषण काले साहब के यहाँ पहुँचा दिए थे। काले साहब का घर लुटा और मिर्ज़ा ग़ालिब के जेवरात भी लुट गये। जियाउद्दीन का घर जला, मिर्ज़ा की लिखी हुई गज़लों का खज़ाना जल गया। कौन जाने इस काव्य की क्षति से मानव-समाज की कितनी हानि हुई है।

मिर्ज़ा अंग्रेज़ों की सज़ा से बचे तो अपना माल गवाँ बैठे। दूसरी ओर पूरे तीन बरस से सरकारी पेंशन बंद थी। निर्धनता के दुख भरे दिनों में मिर्ज़ा पर जो बीतती थी इसका अनुमान कोई भुक्तभोगी ही कर सकता है। अब तीन साल बाद पेंशन खुली। सात सौ पचास रुपये सालाना के हिसाब से दो हज़ार दो सौ रुपये मिले लेकिन इस रुपये से पूरा कर्ज़ भी अदा न हो सका। घर गृहस्थ के लिए एक पैसा भी न बच सका। संकट के इन दिनों में मिर्ज़ा ने कवि के रूप में बहुत ख्याति प्राप्त कर ली थी। अपनी शायरी के माध्यम से गृहस्थ का खर्च चलाना बहुत कठिन था। मिर्ज़ा ग़ालिब ने अंग्रेज सरकार के राजकवि होने की कोशिश की लेकिन असफल रहे। हाँ, नवाब रामपुर के यहाँ से कुछ सहायता मिलने लगी थी।

कुछ समय बाद उनके आश्रयदाता रामपुर के नवाब यूसुफ अली का देहांत हो गया। मिर्ज़ा ग़ालिब शोक व्यक्त करने के लिए रामपुर गये। उनकी इस यात्रा का दूसरा उद्देश्य यह भी था कि १००रुपये मासिक जो वृत्ति मिलती थी, वह बनी रहे। जब मिर्ज़ा ग़ालिब रामपुर से लौट रहे थे तो एक और नई मुसीबत में फँस गए। उन्हें रामगंगा नदी पार करनी थी। रामगंगा में भयंकर बाढ़ आई हुई थी। रामगंगा नदी पर नावों का पुल था। एक जोर के रेले में पुल बह गया। अब हालत यह हुई कि साथी, नौकर और सामान एक किनारे पर रह गए और मिर्ज़ा अकेले दूसरे किनारे पर। कड़ाके की सर्दी में पैदल चलकर मुरादाबाद पहुंचे। एक सराय में ठहरे। एक कम्बल में रात बिताई। जाड़े का महीना, बुढ़ापा और कमजोरी, पास में पर्याप्त कपड़े नहीं थे, बीमार पड़ गए। मुरादाबाद में जब उनके एक मित्र को पता चला तो वे सराय से उन्हें अपने घर लाए। उनका इलाज कराया। जब

ठीक हो गए तो फिर दिल्ली चले आये।

मिर्ज़ा जब घर पहुँचे तो इनके कई शिष्य वहाँ मिले जो मिर्ज़ा की प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके एक शिष्य ने मिर्ज़ा से पूछा, "रामपुर में शेरोशायरी की महफ़िल कैसी जमी ? आपके कलाम को कैसी दाद मिली ?"

मिर्ज़ा ग़ालिब ने सहज भाव से कहा—"जनाब मैं वहां कलाम की दाद माँगने नहीं गया था, भीख मांगने गया था। रोटी अपनी गिरह से नहीं खाता, सरकार से मिलती है। पेंशन खुल गई है। नए नवाब रामपुर ने ताज-पोशी की खुशी में एक हजार रुपये और दो सौ रुपये विदा के वक्त राहखर्च के लिए दिए। मैं बहुत उम्मीद लेकर पहुँचा था। इस ओस से क्या प्यास बुझती ? मैं चला आया हूँ। जीवन के कुछ दिन और हैं, बस अब उम्र पूरी हो गई। रह-रहकर बीते दिन याद आते हैं। अब कोई आशा की किरण दिखाई नहीं देती।"

कोई उम्मीद बर नहीं आती,
कोई सूरत नज़र नहीं आती।
पहले आती थी हाले दिल पे हँसी,
अब किसी बात पर नहीं आती।

मिर्ज़ा ग़ालिब बहुत स्वाभिमानी थे। वे अपने आपको फ़ारसी का विद्वान मानते थे और थे भी। अपने इसी स्वाभिमान के कारण बहुत लोग उनके दुश्मन हो गए। मुहम्मद हुसेन तबरेजी भी फ़ारसी के विद्वान थे। उन्होंने एक फ़ारसी शब्दकोश प्रकाशित किया। मिर्ज़ा ग़ालिब ने उस कोश की गलतियों पर एक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक का निकलना था कि बहुत से लोग मिर्ज़ा से नाराज़ हो गए। यहाँ तक कि मौलवी अमीनउद्दीन ने एक ऐसी पुस्तक प्रकाशित की जिसमें मिर्ज़ा ग़ालिब के लिए बहुत अपशब्द लिखे थे। मिर्ज़ा ग़ालिब ने उन पर मान-हानि का मुक़दमा दायर कर दिया। लेकिन शहर के प्रतिष्ठित लोगों ने बीच में पड़कर फैसला करा दिया।

प्रतिभासम्पन्न शायर अपनी ख्याति के सहारे समाज में भी विशेष स्थान न

पा सका और विद्वत् वर्ग में भी आलोचना का विषय बना रहा। मिर्ज़ा ग़ालिब के जीवन में अनेक अतृप्त इच्छाएँ थी। समाज से दुखी आदमी अपने गृहस्थ जीवन में सन्तोष पा ले, वह भी उन्हें नसीब न हुआ अर्थात् मिर्ज़ा ग़ालिब का पारिवारिक जीवन कभी सुखी नहीं रहा। मिर्ज़ा मस्त तबीयत के आदमी थे और उनकी उमराव बेग़म एक राजवंश की परंपराओं में पली थीं। पत्नी धार्मिक महिला थीं और मिर्ज़ा धर्म के क्षेत्र में भी स्वच्छंद। बेग़म परंपराओं का आग्रहपूर्वक पालन करने वाली और मिर्ज़ा परंपराओं के नितांत विपरीत चलने वाले थे। फिर भी उनकी पत्नी उनका बहुत खयाल रखती थीं। लेकिन दोनों में वह हार्दिक प्यार नहीं था जिससे मिर्ज़ा ग़ालिब का पारिवारिक जीवन सुखी होता। पति-पत्नी के इस टकराव का एक कारण यह भी था कि उनकी बेग़म महल की चारदीवारी में पली थीं। वो शांत प्रकृति तथा लजालु थीं। उन दिनों बड़े घर की लड़कियां इसी प्रकार के वातावरण में पलती थीं। दूसरी ओर मिर्ज़ा ग़ालिब बचपन से ही शौकीन तबीयत और सैर सपाटे के आदी थे। उन्हें नारी में चटक-मटक पसन्द थी। लेकिन अन्तःपुर की सीमा में पली उमराव बेग़म को न बातचीत का वह सलीका आता था और न उठने बैठने का वह ढ़ंग जो मिर्ज़ा को पसंद था।

अगर उमराव बेग़म में बड़प्पन का अहंकार था तो ग़ालिब को भी कम अहंकार न था। मिलने के बजाय दोनों टकराते गए और कटते गए तथा कटते गए और टकराते गए।

कभी-कभी निराशाओं और विपत्तियों के मारे अहि-मयूर-मृग-बाघ भी पास-पास रहने लगते हैं। हृदय समीप हो जाते हैं। दूरियाँ कम हो जाती हैं। संतान का अभाव दोनों को समान रूप से व्यथित करता। अतः अब दोनों एक-दूसरे के करीब आ गए थे। दोनों में नोंक-झोंक भी चलती और मज़ाक भी। लेकिन इस हँसी-मज़ाक में खोखलापन था, जिसके पीछे गरीबी, अनिश्चितता और फ़ाक़ामस्ती का भयानक रूप था। किंतु जीवन के अन्तिम दिनों में मिर्ज़ा ग़ालिब के घर में एक दूसरे के प्रति प्यार था, भले हो वह प्यार वृद्धावस्था के कारण ही क्यों न पैदा हुआ हो।

दुर्भाग्य और अभावों से त्रस्त वृद्ध मिर्ज़ा ग़ालिब

मिर्ज़ा ग़ालिब को आर्थिक संकट तो थे ही, अब शारीरिक कष्ट भी बढ़ गए। शरीर में कई फोड़े निकले। बहुत तकलीफ़ सही। वे ठीक तो हो गए लेकिन बहुत कमज़ोर हो गए। एक दिन उनके परम शिष्य हरगोपाल तुफ़्ता आए और बोले, "उस्ताद, अब तो ठीक हो गए मालूम पड़ते हो।"

मिर्ज़ा ग़ालिब ने बस अपना एक शेर पढ़ दिया—

उनके देखे से जो आ जाती है मुँह पर रौनक़,
वो समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है।

अब उनका अंतिम समय निकट था। शरीर बहुत कमजोर हो गया था। उन्हें कभी-कभी दौरे भी पड़ने लगे थे। खाना भी बंद हो गया था। कोई ठोस चीज़ खा नहीं सकते थे। इसी हालत में १४ फरवरी १८६९ को दिमाग की नस फट गई। वे बेहोश हो गये। अच्छे-से-अच्छा इलाज किया लेकिन कोई लाभ न हुआ। दूसरे दिन १५ फरवरी १८६९ को दोपहर बाद वे इस संसार से विदा हो गये। उसी शाम उनके शव को निजामुद्दीन के कब्रिस्तान में दफ़ना दिया गया।

भारत के इस महान कवि को दफ़ना कर लौटने वाली भीड़ पर मिर्ज़ा ग़ालिब छाए हुए थे। किसी की आंखों में आंसू बनकर, किसी के अधरों पर प्रशंसा के शब्दों में, किसी की मौन अभिव्यक्ति में—वह दीपशिखा बुझ गई किंतु प्रकाश आज भी विद्यमान है। उनके मजार के पास ही 'ग़ालिब ऐकेडेमी' उनकी महान् यादगार बन गई है। यहाँ से प्रायः ग़ालिब और ग़ालिब के काव्य की किरणें विश्व को प्रकाश दे रही हैं।

ग़ालिब की कविताएँ

हर एक बात पै कहते हो तुम कि तू क्या है,
तुम्हीं कहो कि यह अंदाज़े गुफ़्तगू[1] क्या है।
जला है जिस्म जहाँ, दिल भी जल गया होगा,
कुरेदते हो जो अब राख जुस्तजू[2] क्या है।
रगों में दौड़ने फिरने के, हम नहीं क़ाइल,
जब आँख ही से न टपका, तो फिर लहू क्या है।
वो चीज़ जिसके लिए हमको हो बहिश्त[3] अज़ीज,
सिवाए बादा-ए-गुलफ़ामे[4] मुश्कबू[5] क्या है।

---

१. बातचीत की रीत
२. खोज
३. स्वर्ग
४. सुन्दर
५. कस्तूरी गंधमयी, फूलों सी रंगीन मदिरा

नुक्ताचीं[1] है, ग़मेदिल उसको सुनाए न बने,
क्या बने बात, जहाँ बात बनाए न बने ।[2]
मैं बुलाता तो हूँ उसको मगर ऐ जज़्बए दिल,[3]
उसपे बन आए कुछ ऐसी कि बिन आए न बने ।
इस नज़ाकत का बुरा हो, वह भले हैं, तो क्या,
हाथ आवें, तो उन्हें हाथ लगाये न बने ।
मौत की राह न देखूँ, कि बिन आए न रहे,
तुमको चाहूं कि न आओ, तो बुलाये न बने ।
बोझ वह सर से गिरा है कि उठाए न बने,
काम वह आन पड़ा है कि बनाये न बने ।
इश्क पर ज़ोर नहीं है ये वो आतिश[4] ग़ालिब,
कि लगाये न लगे और बुझाए न बने ।

---

१. छिद्रान्वेषी
२. मनोकामनाओं की पूर्ति
३. मनोभाव
४, आग

दिले नादाँ तुझे हुआ क्या है ।
आखिर इस दर्द की दवा क्या है ।
हम हैं मुश्ताक[1] और वो बेज़ार[2],
याइलाही, ये माजरा क्या है ।'
हम भी मुँह में ज़ुबान रखते हैं,
काश, पूछो कि 'मुद्दआ[3] क्या है ।'
जबकि तुझ बिन नहीं कोई मौजूद,
फिर यह हंगामाए खुदा क्या है ।
यह परी चेहरा लोग कैसे हैं,
ग़मज़ा-ओ अश्वा ओ अदा क्या है ।
शिकन ज़ुल्फें अंबरीं क्यों हैं,
निगहे चश्मे सुर्मा सा क्या है ।
सब्ज़ा-ओ-गुल कहाँ से आये हैं,
अब्र क्या चीज़ है, हवा क्या है ।
हमको उनसे वफ़ा की है उम्मीद,
जो नहीं जानते वफ़ा क्या है ।
जान तुम पर निसार करता हूँ,
मैं नहीं जानता दुआ क्या है ।

---

१. उत्सुक
२. रुष्ट
३. लक्ष्य

ऐ ताज़ा वारदाने बिसाते हवाए दिल,[1]
ज़िन्हार, अगर तुम्हें हवस-ए नाओनोश है।[2]
देखे मुझे जो दीदए इबरत निगाह[3] हो,
मेरी सुनो, जो गोशे नसीहत नियोश है।[4]
साक़ी, बजल्वा दुश्मने ईमानो आगही[5]
मुतरिब[6] बनग्मा,[7] रहज़ने तमकीनों होश[8] है।
या शबको देखते थे, कि हर गोशए बिसात,[9]
दामाने बाग़बानो कफ़े गुलफ़रोश[10] है।
लुत्फ़े ख़रामे साक़िओ ज़ौक़े सदाए चंग[11]
यह जन्नते निगाह, वो फ़िर्दौसे गोश[12] है।
या सुब्ह दम जो देखिए आकर तो बज़म में
नै वह सुरूरो सोज़[13], न जोशो ख़रोश है।
दाग़े फ़िराक़े सोहबते शब की जली हुई।
इक शमअ रह गई है, सो वो भी खमोश है।[14]

---

१. हृदय की कामनाओं की महफ़िल में नये आने वालो
२. सुनने और पीने की लिप्सा ३. शिक्षा लेने वाली आँख
४. सदुपदेश पर ध्यान देने वाले कान
५. अपनी छवि के कारण साक़ी ईमान व ज्ञान ले लेता है
६. गायक। ७. संगीत द्वारा
८. मन की शक्ति और बुद्धि को लूट लेता है
९. फर्श का हरेक कोना
१०. माली का आँचल और फूल बेचने वाली की हथेली
११. साक़ी की मंथर गति और वाद्य ध्वनि
१२. स्वर्ग श्रवण १३. खुशी और गर्मी
१४. रात की महफ़िल के विरह के दाग़ से जली हुई.

कोई उम्मीद बर नहीं आती,
कोई सूरत नज़र नहीं आती।
मौत का एक दिन मुअय्यन[1] है,
नींद क्यों रात भर नहीं आती।
आगे आती थी हाले दिल पे हँसी,
अब किसी बात पर नहीं आती।
जानता हूँ सुबाबे ताअतो जुह्द,[2]
पर तबीयत इधर नहीं आती।
है कुछ ऐसी ही बात, जो चुप हूँ,
वरना क्या बात कर नहीं आती।
हम वहाँ हैं, जहाँ से हमको भी,
कुछ हमारी खबर नहीं आती।
मरते हैं आरज़ू में मरने की,
मौत आती है, पर नहीं आती।
काबा किस मुँह से जाओगे 'ग़ालिब'
शर्म तुमको मगर नहीं आती।

---

१. निश्चित
२. अभिलाषा

लिना तेरा अगर नहीं आसाँ,[1] तो सहल है,
दुश्वार तो यही है, कि दुश्वार[2] भी नहीं।
इस सादगी पे कौन न मर जाये, ऐ खुदा,
लड़ते हैं और हाथ में तलवार भी नहीं।

---

१. सरल
२. कठिन

इब्ने मरियम[१] हुआ करे कोई,
मेरे दुख की दवा करे कोई।
बक रहा हूँ जुनूँ[२] में क्या क्या कुछ,
कुछ न समझे, खुदा करे कोई।
न सुनो, गर बुरा कहे कोई,
न कहो, गर बुरा करे कोई।
रोक लो, गर गलत चले कोई,
बख्श दो,[३] गर ख़ता करे कोई।
कौन है, जो नहीं है हाजितमंद[४],
किसकी हाजित रवा करे कोई।
जब तव्वक़ो[५] ही उठ गई 'ग़ालिब'
क्यों किसी का गिला[६] करे कोई।

---

१. ईसा मसीह जो लोगों को निरोग करते फिरते थे
२. उन्माद
३. क्षमा
४. जरूरतमन्द
५. आसरा, भरोसा
६. शिकायत

है बस कि हर इक उनके इशारे में निशाँ और,
करते हैं मुहब्बत तो गुजरता है गुमा और।

यारब न वो समझे हैं, न समझेंगे मेरी बात,
दे और दिल उनको, जो न दे मुझको ज़ुबाँ और।

तुम शहर में हो तो हमें क्या ग़म जब उठेंगे,
ले आएँगे बाज़ार से जाकर दिलो जाँ और।

लेता न अगर दिल तुम्हें देता कोई दम चैन,
करता, जो न मरता कोई दिन आहो फ़ुग़ाँ[1] और,

हैं और भी दुनिया में, सुख़नवर[2] बहुत अच्छे,
कहते हैं कि ग़ालिब का है, अंदाज़े बयाँ[3] और।

---

१. रुदन
२. कवि प्रकार
३. अभिव्यक्ति का ढंग

लाज़िम था कि देखे मेरा रस्ता कोई दिन और,
तनहा[1] गए क्यों अब रहो तनहा कोई दिन और।
आए हो कल और आज ही कहते हो कि जाऊँ,
माना कि नहीं आज से अच्छा, कोई दिन और।
जाते हुए कहते हो, क़यामत[2] में मिलेंगे,
क्या ख़ूब, क़यामत का है गोया कोई दिन और।
नादाँ हो जो कहते हो, कि क्यों जीते हो 'ग़ालिब',
क़िस्मत में है मरने की तमन्ना कोई दिन और।

---

१. अकेले
२. प्रलय

आह को चाहिए इक उम्र, असर होने तक,
कौन जीता है तेरी जुल्फ़ के सर होने तक।

आशिक़ी सब्रतलब[1] और तमन्ना बेताब[2],
दिल का क्या रंग करूँ, खूने जिगर होने तक।

हमने माना, कि तग़ाफुल[3] न करोगे लेकिन,
ख़ाक हो जाएँगे हम, तुमको ख़बर होने तक।

ग़मे हस्ती[4] का, 'असद' किससे हो जुज़ मर्ग[5] इलाज,
शमअ हर रंग में जलती है सहर[6] होने तक।

१. धैर्य को आज़माने वाली
२. बेचैन
३. उपेक्षा
४. पीड़ित जीवन
५. मृत्यु के सिवा
६. भोर

ये न थी हमारी क़िस्मत कि विसाले यार[1] होता,
अगर और जीते रहते यही इंतज़ार होता।
तेरे वादे पे जिए हम, तो यह जान झूठ जाना,
कि खुशी से मर न जाते, अगर एतबार होता।
तेरे तीरे नीमकश[2] को कोई मेरे दिल से पूछे,
यह खलिश[3] कहाँ से होती, जो जिगर के पार होता।
यह कहाँ की दोस्ती है कि बने हैं दोस्त नासेह[4],
कोई चारासाज़[5] होता, कोई ग़मगुसार[6] होता।
कहूँ किससे मैं कि क्या है, शबे ग़म बुरी बला है,
मुझे क्या बुरा था मरना अगर एक बार होता।
यह मसायले तसव्वुफ़[7] यह तेरा बयान 'ग़ालिब'
तुझे हम वली[8] समझते, जो न वादाख्वार[9] होता।

---

१. प्रिय-मिलन
२. आधा खिंचा बाण
३. चुभन, वेदना
४. उपदेशक
५. परिचारक
६. दुख बाँटने वाला
७. ईश्वर सन्निधान की समस्याएँ
८. ऋषि
९. मद्यप, शराबी

दर्द मिन्नतकशे[1] दवा न हुआ,
मैं न अच्छा हुआ, बुरा न हुआ।
जमा करते हो क्यों रकीबों[2] को,
इक तमाशा हुआ गिला[3] न हुआ।
है खबर गर्म उनके आने की,
आज ही घर में बोरिया न हुआ।
जान दी, दी हुई उसी की थी,
हक तो यह है कि हक अदा न हुआ।
कितने शीरीं[4] है तेरे लब कि रकीब,
गालियाँ खाके बेमज़ा न हुआ।
कुछ तो पढ़िए कि लोग कहते हैं,
आज 'गालिब' गज़लसरा[5] न हुआ।

---

१. दवा का आभारी
२. प्रतिद्वन्द्वियों
३. शिकायत
४. मीठे
५. ग़जल गाने वाला

किसी को देके दिल कोई नवा संजे फुगाँ[1] क्यों हो
न हो जब दिल ही सीने में तो फिर मुंह में ज़ुबां क्यों हो
वो अपनी खू न छोड़ेंगे, हम अपनी वज़्म क्यों बदलें
सुबुक सर[2] बन के क्या पूछें कि हमसे सरगराँ[3] क्यों हो
किया गमख्वार ने रुस्वा, लगे आग इस मुहब्बत को
न लावे ताब जो ग़म की वो मेरा राजदाँ क्यों हो
वफ़ा कैसी ? कहाँ का इश्क ? जब सर फोड़ना ठहरा
तो फिर ऐ संगदिल तेरा ही संगेआस्ताँ[4] क्यों हो
क़फ़स में मुझसे रूदादे चमन[5] कहते न डर हमदम
गिरी है जिसपे कल बिजली वो मेरा आशियाँ क्यों हो
गलत हैं जज़्बे दिल का शिकवा देखो जुर्म किसका है
न खेंचो गर तुम अपने को कशाकश दरमियाँ क्यों हो
यह फ़ितना आदमी की खाना वीरानी[6] को क्या कम है
हुए तुम दोस्त जिसके दुश्मन उसका आस्माँ क्यों हो
यही है आज़माना तो सताना किसको कहते हैं,
उदू[7] के हो लिए जब तुम तो मेरा इम्तेहाँ क्यों हो
निकाला चाहता है काम क्या तानों से तू 'ग़ालिब'
तिरे बेमेहर कहने से वो तुझ पर मेहरबाँ क्यों हो

---

१. रोदन का स्वर उत्पन्न करने वाला, फरियाद
२. अपमानित
३. नाराज
४. द्वार की देहरी का पत्थर
५. बगीचे का किस्सा
६. घर की बरबादी
७. प्रतिद्वंद्वी

कब वो सुनता है कहानी मेरी
और फिर वो भी जबानी मेरी
खलिशे गमजए खूँरेज न पूछ
देत खूँरेज पेशानी मेरी।
क्या बयाँ करके मिरा रोयेंगे यार
मगर आशुफ्ता बयानी मेरी।
हूँ जखुद रफ़्तए बेदाए ख्याल
भूल जाना है निशानी मेरी।
मुतकाबिल है[1] मुकाबिल मेरा
रुक गया देख रवानी मेरी।
कद्रे संगे सरे रह रखता हूँ
सख्त अरजाँ है गरानी मेरी।
गर्दे बादे रहे बेताबी[2] हूँ
सरसरे शौक़ है बानी मेरी।
दहन उसका जो न मालूम हुआ
खुल गई हेच मदानी मेरी।
कर दिया जौफने आजिज़[3] गालिब
नंगे पीरी[4] है जवानी मेरी।

---

१. मुकाबिले में
२. कुछ न जानना
३. विरहजन्य दुर्बलता से अशक्त
४. बुढ़ापे की लज्जा

बाजीचए अतफाल[1] है दुनिया मेरे आगे।
होता है शबो रोज[2] तमाशा मेरे आगे।
इक खेल है औरंगे सुलेमाँ मेरे नज़दीक,
इक बात है ऐजाजे मसीहा मेरे आगे।
जुज नाम नहीं सूरते आलम मुझे मंजूर,
जुज वहम नहीं हस्तिए अशिया मेरे आगे।
होता है निहाँ गर्द में सहरा मेरे होते,
घिसता है जबीं खाक पे दरिया मेरे आगे।
मत पूछ कि क्या हाल है मेरा तेरे पीछे,
तू देख कि क्या रंग है तेरा मेरे आगे।
सच कहते हो खुदबीनो खुदआरा हूँ न क्यों हूँ ?
बैठा बुते आईना सीमा मेरे आगे।
फिर देखिए अंदाजे गुल अफ़्शानिए गुफ़्तार,
रखदे कोई पैमानओ सहबा मेरे आगे।
नफ़रत का गुमाँ गुजरे है मैं रश्क से गुजरा,
क्योंकर कहूँ लो नाम न उनका मेरे आगे।
ईमाँ मुझे रोके है तो खेंचै है मुझे कुफ्र,[3]
काबा मिरे पीछे है कलीसा[4] मेरे आगे।

---

१. बच्चों का खेल
२. रात दिन
३. अधर्म
४. गिर्जाघर

आशिक हूँ पे माशूक फ़रेबी है मेरा काम,
मजनूँ को बुरा कहती है लैला मेरे आगे।
खुश होते हैं पर वस्ल में यूँ मर नहीं जाते,
आई शबे हिजराँ की तमन्ना मेरे आगे।
है मोजजन इक कुल्जमे खूँ काश यही हो,
आता है अभी देखिए क्या क्या मेरे आगे।
गो हाथ को जुम्बिश नहीं आँखों में तो दम है,
रहने दो अभी साग़रो मीना मेरे आगे।
हम पेशओ हम मशरबो हम राज है मेरा,
'ग़ालिब' को बुरा क्यों कहो अच्छा मेरे आगे।

हज़ारों ख़्वाहिशें[1] ऐसी कि हर ख़्वाहिश पे दम निकले।
बहुत निकले मिरे अरमान लेकिन फिर भी कम निकले।
डरे क्यों मेरा क़ातिल ? क्या रहेगा उसकी गर्दन पर,
वो ख़ूँ जो चश्मेतर से उम्र भर यूँ दमबदम निकले।
निकलना ख़ुल्द[2] से आदम[3] का सुनते आए थे लेकिन,
बहुत बेआबरू होकर तेरे कूचे से हम निकले।
भरम खुल जाए ज़ालिम तेरे क़ामत की दराज़ी का,
अगर उस तुर्रए पुर पेचोख़म का पेचोख़म निकले।
मगर लिखवाए कोई उसको खत तो हमसे लिखवाए,
हुई सुबह, और घर से कान पर रखकर कलम निकले।
हुई इस दौर में मंसूब मुझसे बादा आशामी,
फिर आया वो जमाना जो जहाँ में जामोजम निकले।
हुई जिनसे तवक़्क़ो ख़स्तगी की दाद पाने की,
वो हमसे भी जियादा ख़स्तए तेग़े सितम निकले।
मुहब्बत में नहीं है फ़र्क़ जीने और मरने का,
उसी को देखकर जीते हैं जिस काफ़िर[4] पे दम निकले।
जरा कर जोर सीने पर कि तीरे पुर सितम निकले,
जो वो निकले तो दिल निकले, जो दिल निकले तो दम निकले।

---

१. इच्छा, चाह
२. स्वर्ग
३. बाइबिल और कुरान के अनुसार आदि पुरुष
४. प्रियतम

खुदा के वास्ते पर्दा न काबे से उठा ज़ालिम,
कहीं ऐसा न हो याँ भी वही काफ़िर सनम निकले।
कहाँ मैख़ाने का दरवाजा 'ग़ालिब' और कहाँ वाइज़,
पर इतना जानते हैं कल वो जाता था कि हम निकले।

निजामुद्दीन, नई दिल्ली स्थित मिर्ज़ा ग़ालिब की समाधि